गिजुभाई-ग्रंथमाला : 8

बाल शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया

लेखक

गिजुभाई

अनुवाद

रामनरेश सोनी

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,

राजलदेसर (चूरू) 331 802

दक्षिणामूर्ति-बालमन्दिर
भावनगर-364 002 (गुजरात)

प्रकाशक :
मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति,
राजलदेसर

प्रकाशन-वर्ष : 1997
प्रतियां : 2,100
मूल्य : अठारह रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास, बीकानेर

प्रकाशकीय

हमारे साथियों ने जब यहाँ पर सन् 1954 में अभिनव बालभारती नामक संस्था स्थापित की थी, तभी मेरे जेहन में बाल-शिक्षण के साथ ही साथ अध्यापकों को प्रशिक्षण देने का विचार भी उठ रहा था, बल्कि अभिभावकों द्वारा प्रशिक्षण लेने का विचार भी मेरे मन में बहुत प्रबल था। मैं सौभाग्यशाली रहा कि एक बार कलकत्ते में मुझे प्रख्यात बाल-शिक्षाविद् स्व. के. यू. भामरा से प्रशिक्षण लेने का अवसर मिला, सन् 1958-59 में।

उस प्रशिक्षण ने मेरे इस चिंतन की दिशा को और भी पुष्ट कर दिया कि बाल-शिक्षण के लिए अध्यापकों का ही नहीं, माता-पिताओं का भी नजरिया बदलना जरूरी है। मेरे आग्रह पर स्व. के. यू. भामरा यहाँ पधारे और सन् 1962 में उन्होंने मोण्टीसोरी प्रशिक्षण का काम शुरू किया। आज 25 वर्षों से अध्यापकों के शिक्षण-प्रशिक्षण का कार्यक्रम यहाँ जारी है और अब तक लगभग 200 अध्यापक प्रशिक्षण का लाभ हासिल कर चुके हैं।

मैं अब भी बराबर अनुभव करता रहा हूँ कि अध्यापक बनने के लिए मोण्टीसोरी-शिक्षण का प्रशिक्षण लेना एक बात है, और बच्चों के माता-पिता बनने के लिए प्रशिक्षण लेना एक अलग अहमियत रखता है। मेरी पत्नी और दोनों पुत्रियों ने महज इसी इरादे से प्रशिक्षण लिया था। मैं चाहता हूँ कि अभिभावकों को इस दिशा में प्रेरित किया जाना जरूरी है। इसी इरादे से पिछले दिनों हमने संस्था में 'अभिभावकत्व-शिक्षण' पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की थी। संगोष्ठी में बाल-शिक्षण के अछूते पक्षों पर तो रोशनी डाली ही गई, संस्था के लिए एक सुझाव भी सामने आया कि माता-पिता की शिक्षा के लिए शैक्षिक-साहित्य प्रकाशित कराया जाए। हमने इसे स्वीकार किया, और पहला कदम यह उठाना ज़रूरी समझा कि देश के महान बाल-शिक्षाविद् स्व. गिजुभाई बधेका की गुजराती भाषा में लिखी हुई पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करवाकर पुस्तकाकार प्रकाशित करें। इस दिशा में इंदौर के महान गाँधीवादी चिंतक एवं मध्य भारत के प्रथम शिक्षामन्त्री श्री काशिनाथ त्रिवेदी का हमें अभूतपूर्व सहयोग एवं प्रोत्साहन मिला। स्व. गिजुभाई की अनेक पुस्तकों का वे सन् 1932-34 के कार्यकाल में ही अनुवाद कर चुके हैं, और शेष का भी अनुवाद करने का उनका संकल्प है। इसी दिशा में मुझे 'शिविरा-पत्रिका' के संपादकीय सहकर्मी श्री रामनरेश सोनी का भी सहयोग मिला है।

पुस्तक-प्रकाशन का काम अपने आप में बहुत कठिन होता है, विशेषतया अर्थ के अभाव में तो असम्भव-प्राय हो जाता है। पर हमारा सौभाग्य है कि मेरे अनुरोध को यशस्वी दानदाताओं ने स्वीकार किया, और प्रत्येक पुस्तक को अकेले अपने ही आर्थिक सहयोग से छापने का भार वहन किया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'बाल शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया' के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का व्ययभार तारानगर के हमारे मित्र तथा बाल शिक्षा में गहन रुचि रखने वाले श्री मंगलचन्द नवरलमल बरमेचा ने सहर्ष वहन किया था। वे शिक्षकों-अभिभावकों की शिक्षा की बड़ी ही रोचक तथा उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम बने, इस योगदान के लिए संस्था की ओर से उनका कोटिशः आभार।

इस पुस्तक की 'भूमिका' के लिए प्रयोगधर्मी बाल-शिक्षाविद्, शिक्षक और विचारक श्री रोहित धनकर का और सम्पादकीय निवेदन के लिए श्रद्धेय काशिनाथ त्रिवेदी का मैं हार्दिक आभार मानता हूँ। काशिनाथजी ने तो गिजुभाई की समस्त गुजराती पुस्तकों को ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित करने हेतु दक्षिणामूर्ति-बालमंदिर, भावनगर की आचार्या श्रद्धेय विमलाबहन बधेका से भी हमारे लिए पत्राचार करके उनकी स्वीकृति प्राप्त की है। इसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

मोण्टीसोरी-बाल-शिक्षण-समिति —कुन्दन बैद
राजलदेसर

संपादक का निवेदन

हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला का अवतरण

अपने जन्म से पहले अपनी माँ के गर्भ में, और जन्म के बाद अपने माता-पिता और परिवार के बीच, हमारे निर्दोष और निरीह बच्चों को हमारी ही अपनी नादानी, नासमझी और कमजोरियों के कारण शरीर और मन से जुड़े जो अनगिनत दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं, जो उपेक्षा, जो अपमान, जो तिरस्कार, जो मार-पीट और डाँट-फटका र उनको बराबर सहनी पड़ती है, यदि कोई माई का लाल इन सब पर एक लम्बी दर्द-भरी कहानी लिखे, तो निश्चय ही वह कहानी, हम में से जो भी संवेदनशील हैं, और सहृदय हैं, उनको रुलाये बिना रहेगी नहीं। अपने ही बालकों को हमने ही तन-मन के जितने दुःख दिए हैं, चलते-फिरते और उठते-बैठते हमने उनको जितना मारा-पीटा, रुलाया, सताया और दुरदुराया है, उनकी तो कोई सीमा रही ही नहीं है। इन सबकी तुलना में हमारे घरों में बालकों के सही प्यार-दुलार का पलड़ा प्रायः हलका ही रहता रहा है।

ऐसे अनगिनत दुःखी-दरदी बालकों के बीच उनके मसीहा बनकर काम करने वाले स्वर्गीय गिजुभाई बधेका की अमृत वर्षा करने वाली लेखनी से लिखी गई, और माता-पिताओं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए वरदान-रूप बनी हुई छोटी-बड़ी गुजराती पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद इस गिजुभाई-ग्रंथमाला के नाम से प्रकाशित करने का सुयोग और सौभाग्य बाल-शिक्षा के काम में लगी हमारी एक छोटी-सी शिक्षा-संस्था को मिला है, इसकी बहुत ही गहरी प्रसन्नता और धन्यता हमारे मनःप्राण में रम रही है। हमको लगता है कि इससे अधिक पवित्र और पावन काम हमारे हिस्से न पहले कभी आया, और न आगे कभी आ पाएगा। हम अपनी इस कृतार्थता को किन शब्दों में और कैसे व्यक्त करें, इसको हम समझ नहीं पा रहे हैं। हम नम्रतापूर्वक मानते हैं कि परम मंगलमय प्रभु को परम सुख देने वाली आन्तरिक प्रेरणा का ही यह एक मधुर और सुखद फल है। इसको लोकात्मा रूपी और घट-घट-व्यापी प्रभु के चरणों में सादर, सविनय समर्पित करके हम धन्य हो लेना चाहते हैं : **त्वदीय वस्तु गोविन्दः तुभ्यमेव समर्पयेत् !**

क्राउन सोलह पेजी आकार के कोई तीन हजार की पृष्ठ संख्या वाली इस गिजुभाई-ग्रंथमाला में गिजुभाई की जिन 15 पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित

करने की योजना बनी है, उनमें चार पुस्तकें माता-पिताओं के लिए हैं। चारों अपने ढंग की अनोखी और मार्गदर्शक पुस्तकें हैं। घरों में बालकों के जीवन को स्वस्थ, सुखी और समृद्ध बनाने की प्रेरक और मार्मिक चर्चा इन पुस्तकों की अपनी विशेषता है। ये हैं :

1. माता-पिता से
2. मां-बाप बनना कठिन है
3. माता-पिता के प्रश्न, और
4. माँ-बापों की माथापच्ची।

बाकी ग्यारह पुस्तकों में बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के विविध अंगों की विशद चर्चा की गई है। इनके नाम यों हैं :

1. मोण्टीसोरी-पद्धति
2. बाल-शिक्षण, जैसा मैं समझ पाया
3. प्राथमिक शाला में शिक्षा-पद्धतियां
4. प्राथमिक शाला में शिक्षक
5. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा
6. प्राथमिक शाला में चिट्ठी-वाचन
7. प्राथमिक शाला में कला-कारीगरी की शिक्षा, भाग 1-2
8. दिवास्वप्न
9. शिक्षक हों तो
10. चलते-फिरते
11. कथा-कहानी का शास्त्र, भाग 1-2

इनमें 'मोण्टीसोरी पद्धति', 'दिवास्वप्न' और 'कथा-कहानी का शास्त्र' ये तीन पुस्तकें अपनी विलक्षणता और मौलिकता के कारण शिक्षा-जगत् के लिए गिजुभाई की अपनी अनमोल और अमर देन बनी हैं। इनमें बाल-देवता के पुजारी और बाल-शिक्षक गिजुभाई ने बहुत ही गहराई में जाकर अपनी आत्मा को उंडेला है। बाल-जीवन और बाल-शिक्षण के मर्म को समझने में ये अपने पाठकों की बहुत मदद करती हैं। बार-बार पढ़ने, पीने, पचाने और अपनाने लायक भरपूर सामग्री इनमें भरी पड़ी है। ये अपने पाठकों को बाल-जीवन की गहराइयों में ले जाती हैं, और बाल-जीवन के मर्म को समझने में पग-पग पर उनकी सहायता करती हैं।

गिजुभाई की इन पन्द्रह रचनाओं में से केवल दो रचनाएं, 'दिवास्वप्न' और 'प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा' सन् 1934 में पहली बार हिन्दी में प्रकाशित हुई थीं। शेष सब रचनाएं अब सन् 1987 से क्रम-क्रम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने वाली हैं। पचास से भी अधिक वर्षों तक हिन्दी-भाषी जनता का हमारा शिक्षा-जगत् इन पुस्तकों के प्रकाशन से वंचित बना रहा। न गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष आता, और न यह पावन अनुष्ठान हमारे संयुक्त पुरुषार्थ का एक निमित्त बनता। 15 नवम्बर, 1984 को शुरू हुआ गिजुभाई का जन्म-शताब्दी-वर्ष 15 नवम्बर, 1985 को पूरा हो गया। किन्तु गुजरात की बाल-शिक्षा-संस्थाओं ने और बाल-शिक्षा-प्रेमी भाई-बहनों ने गुजरात की सरकार के साथ जुड़कर जन्म-शताब्दी-वर्ष की अवधि 15 नवम्बर, 86 तक बढ़ाई, और गिजुभाई के जीवन और कार्य को उसके विविध रूपों में जानने और समझने की एक नई लहर गुजरात-भर में उठ खड़ी हुई। गुजरात के पड़ौसी के नाते उस लहर ने राजस्थान, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के हम कुछ साथियों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। फलस्वरूप गिजुभाई-ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रकाशित करने का शुभ संकल्प राजस्थान के राजलदेसर नगर के बाल-शिक्षा-प्रेमी नागरिक भाई श्री कुन्दन बैद के मन में जागा, और उन्होंने इस ग्रंथमाला को हिन्दी-भाषी जगत् के हाथों में सौंपने का बीड़ा उठा लिया।

हमको विश्वास है कि भारत का हिन्दी-भाषी जगत्, विशेषकर उसका हिन्दी-भाषी शिक्षा-जगत्, अपने बीच इस गिजुभाई-ग्रंथमाला का भरपूर स्वागत, मुक्त और प्रसन्न मन से करेगा, और इससे प्रेरणा लेकर अपने क्षेत्र के बाल-जीवन और बाल-शिक्षण को सब प्रकार से समृद्ध बनाने के पुण्य-पावन कार्य में अपने तन-मन-धन की तल्लीनता के साथ जुट जाना पसन्द करेगा। हिन्दी में गिजुभाई-ग्रंथमाला के अवतरण की इससे अधिक सार्थकता और क्या हो सकती है ?

अपने जीवन-काल में गिजुभाई ने अपनी रचनाओं को अपनी कमाई का साधन बनाने की बात सोची ही नहीं। अपने चिन्तन और लेखन का यह नैवेद्य भक्तिभावपूर्वक जनता जनार्दन को समर्पित करके उन्होंने जिस धन्यता का वरण किया, वह उनकी जीवन-साधना के अनुरूप ही रहा। गिजुभाई के इन पद चिह्नों का अनुसरण करके हमने भी अपनी गिजुभाई-ग्रंथमाला को व्यावसायिकता के स्पर्श से मुक्त रखा है, और ग्रंथमाला की सब पुस्तकों को उनके लागत मूल्य में ही पाठकों तक पहुँचाने का शुभ निश्चय किया है।

बीकानेर, राजस्थान, के हमारे बाल-शिक्षा-प्रेमी साथी, जाने-माने शिक्षाविद् और गिजुभाई के परम प्रशंसक श्री रामनरेश सोनी इस ग्रन्थमाला के अनुष्ठान को सफल बनाने में हमारे साथ सक्रिय रूप से जुड़ गए हैं, इससे हमारा भार बहुत हलका हो गया है।

हमको खुशी है कि हमारे साथी श्री कुन्दन बैद इस ग्रन्थमाला की 15 पुस्तकों के लिए पन्द्रह ऐसे उदार और सहृदय दाताओं की खोज में लगे हैं, जो इनमें से एक-एक पुस्तक के प्रकाशन का सारा खर्च स्वयं उठा लेने को तैयार हों। इसमें भी पहल श्री कुन्दन बैद ने ही की है। त्याग और तप की बेल तो ऐसे ही खाद-पानी से फूलती-फलती रही है!

—काशिनाथ त्रिवेदी

गांव-पीपल्याराव,
इन्दौर-452001

भूमिका

बाल-शिक्षण में स्नेह और शास्त्र

शिक्षा और खास कर बाल-शिक्षा पर हिन्दी भाषा में मिलने वाले लेखन को हम फुटकर चिंतन ही कह सकते हैं। बाल-शिक्षा पर उसकी समग्रता में सभी पहलुओं पर युक्तिपरक चिंतन का अभाव बहुत साफ दिखता है। जो लेखन मिलता है उसे मोटे तौर पर दो भागों में बांटा जा सकता है। एक, किन्हीं विदेशी विचारकों के चिंतन को आधा-अधूरा समझ कर हिन्दी में परोसने के लिए किया गया लेखन। दूसरा, मौलिकता के नाम पर आधारहीन मान्यताओं को साग्रह प्रस्तुत करने वाला लेखन। दूसरे प्रकार के लेखन में तो विरोधाभास भी भरपूर मिलता है। प्राथमिक शाला के हिन्दी भाषी शिक्षकों के लिए ऐसी पुस्तकों की भयावह कमी है जो विचारोत्तेजक हों, जिनकी दृष्टि साफ हों और जो सोच को आगे बढ़ाने के लिए आधारभूमि का निर्माण करने में सहायक हो सकें।

एक मान्यता यह भी है कि शिक्षक को सिद्धान्तों के चक्कर में पड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। वह तो बस कुछ शिक्षण विधियां सीख ले। उनको अपनी शाला में ईमानदारी और मेहनत के साथ लागू करे। सिद्धान्त की बात शिक्षाशास्त्रियों पर छोड़ दे। नतीजा यह होता है कि शिक्षक द्वारा सीखी गई और अपनाई गई विधियां हवा में लटकने लगती हैं। शिक्षक के लिए वे रूढ़ लकीर से अधिक कुछ नहीं होती। उसका काम होता है कोल्हू के बैल की भांति उस लकीर पर चलते जाना। उनमें कहां परिष्कार की दरकार है और कहां परिवर्तन की दरकार है, यह सोच पाना उसके लिए नितांत असंभव होता है। परिस्थिति से मेल न खाती हों तो उन विधियों का दूसरा रूप क्या हो सकता है, यह उसकी समझ के बाहर की बात हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे यत्नपूर्वक सीखी गई विधियां मन पर लदे बोझ के अलावा कुछ नहीं होती। शिक्षक के स्वतन्त्र सोच की दुश्मन अवश्य बन जाती हैं।

हर सुविचारित शिक्षण-विधि का एक अपना आदर्श होता है। शिक्षा के द्वारा क्या हासिल करने का प्रयत्न है इसकी एक दृष्टि होती है। साथ ही हर सुविचारित शिक्षण-विधि के पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण होता है। बाल-मनोविज्ञान की उसकी अपनी मान्यतायें होती हैं। जब तक ये दो प्रकार की

मान्यताएं—शिक्षा के आदर्श के बारे में तथा शिक्षा-मनोविज्ञान के बारे में—शिक्षक के मन में साफ नहीं होंगी, वह किसी भी विधि के साथ न्याय नहीं कर पायेगा। और शिक्षण-विधि के साथ इस अन्याय का बुरा नतीजा कौन भुगतता है ?–बालक। शिक्षण-विधि के साथ अन्याय बालक के साथ, उसके विकास के साथ सीधा अन्याय है। पर हमारे समाज में सर्वाधिक शक्तिविहीन भी बालक ही है। अतः कौन परवाह करे ?

गिजुभाई परवाह करते थे। उनके मन में बालक के प्रति अथाह प्रेम था। अथाह श्रद्धा थी। गहरी संवेदना थी। गिजुभाई के लेखन को पढ़कर मुझे तो लगता है कि वे बाल-शिक्षक हुए बिना रह ही नहीं सकते थे। वे यह जानते थे कि मात्र सिद्धान्त-ज्ञान और शिक्षण-विधि में प्रवीणता यथेष्ट नहीं है। सिद्धान्त-ज्ञान और शिक्षण-विधि में प्रवीणता एक अच्छा शिक्षक होने के लिए आवश्यक तो है पर पर्याप्त नहीं है। शिक्षक के लिए बाल-प्रेम से ओतप्रोत होना भी आवश्यक है। बालक के प्रति, उसकी विकासशील व खोजी प्रवृत्तियों के प्रति गहरी श्रद्धा भी आवश्यक है। तभी सिद्धान्त में गति और विधि में निपुणता किसी काम आ सकेगी। पर गिजुभाई का बाल प्रेम अंधा लाड़-प्यार न था। वे जहां बालक पर होने वाली ज्यादतियों का विरोध करते हैं वहीं अंध-प्रेम में बालक को पंगु बना देने का भी विरोध करते हैं। वे एक ऐसे शिक्षक की कल्पना करते हैं जो 'धैर्यवान, स्वाधीन, संयमी, स्नेहशील तथा शास्त्रीय' हो; जो 'मिथ्याभिमानी' न हो कर 'नम्र' हो। वे शिक्षक को 'स्नेहशील' के साथ-साथ 'शास्त्रीय' भी चाहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा-शास्त्र को जाने बिना स्वाधीन होना न संभव है न वांछनीय। बिना शिक्षा-शास्त्र की समझ के स्वाधीन होने के प्रयत्नों की परिणति नित नये खुलने वाले निजी विद्यालयों में सहज ही देखी जा सकती है।

इस पुस्तक–'बाल शिक्षण : जैसा मैं समझ पाया'– की चिंतनधारा मुझे कुछ यों लगती है : पाठक के मन में बालक के प्रति संवेदना जगाना। 'बाल जीवन की उषा' लेख इसका उदाहरण है। जब संवेदना जाग गई तो बाल-शिक्षण की समुचित व्यवस्था के लिए यत्न करने की आवश्यकता का प्रतिपादन। उस यत्न की दिशा क्या हो ? इस पर चर्चा, और फिर शिक्षा के सिद्धान्तों पर गंभीर विवेचन। दूसरे शब्दों में, एक अच्छे शिक्षक के लिए आवश्यक तीनों बातों–बाल प्रेम, विधि का ज्ञान और सिद्धान्त की समझ का इस पुस्तक में उत्तम समन्वय मिलता है।

गिजुभाई के लेखन में दो बातें मुझे चकित करती हैं। ये दोनों विशेषतायें इस पुस्तक में बहुत ही साफ नजर आती हैं। पहली विशेषता तो यह, कि उनके लेखन में बाल-प्रेम, संवेदना व भावप्रवणता के साथ युक्ति व तर्क का अद्भुत संतुलन मिलता है। सामान्यतः देखने में यह आता है कि भावना की तीव्रता वाले चिंतक भावातिरेक में ही बह जाते हैं। दिग्भ्रमित हो जाते हैं। युक्ति पर उनकी पकड़ ढीली पड़ जाती है। पर गिजुभाई ऐसा नहीं होने देते। उनके लेखन में भावप्रवणता और युक्ति दोनों एक दूसरे की पूरक लगती हैं। दूसरी विशेषता पहली विशेषता का एक और तथा अधिक कठिनाई से प्राप्त होने वाला रूप है। गिजुभाई मोंटेसरी पद्धति के प्रति अपनी पूर्ण आस्था तथा अपना पूर्ण विश्वास बार-बार अभिव्यक्त करते हैं। सच कहूं तो मुझे कई बार गिजुभाई मोंटेसरी पद्धति के प्रचारक लगते हैं। इतने प्रबुद्ध शिक्षाविद् का एक पद्धति विशेष का प्रचारक होना मुझे अखरता भी है, पर जो बात चकित करती है वह यह है कि गिजुभाई अनन्य भक्त होने के बावजूद मोंटेसरी पद्धति के अंधानुकरण-कर्ता नहीं है। इस पद्धति के प्रति अपरिमेय श्रद्धा के बावजूद वे स-तर्क व युक्ति-युक्त चिंतक बने रहते हैं। सामान्यतः देखने में यह आता है कि श्रद्धालु लोग स्वतन्त्र चिन्तन छोड़कर अंधानुकरण करने में ही जीवन का सार समझने लगते हैं। पर गिजुभाई की बात और है, वे तो मोंटेसरी पद्धति को और अधिक विकसित करने में, उसे नये आयाम देने में लगे रहे। अपने लेखन द्वारा वे यही प्रेरणा दूसरों को भी देते हैं। इस पुस्तक के 'बाल-मन्दिर का उद्देश्य' नामक लेख में यह बात बहुत ही साफ तौर पर उभर कर आती है।

इस पुस्तक का 'बालगृह' नामक लेख मुझे दो कारणों से महत्त्वपूर्ण लगता है। एक तो यह कि इस लेख में बालक के प्रारंभिक वर्षों में होने वाले मानसिक व शारीरिक विकास का बहुत ही साफ और प्रामाणिक चित्र खींचा गया है। दूसरे, यह लेख युक्ति द्वारा बालगृह की आवश्यकता का प्रतिपादन बहुत सफाई से करता है। यहां युक्ति का बहुत ही सशक्त व सुघड़ प्रयोग गिजुभाई ने किया है। इसका युक्ति-प्रवाह कुछ वैसा ही है जैसा सफाई से सिद्ध की गई गणितीय प्रमेयों की उपपत्ति में मिलता है।

यहां मैं इस पुस्तक की कुछ मूल मान्यताओं पर भी चर्चा करना चाहूंगा। ये ऐसी मान्यताएं हैं जो गिजुभाई के समग्र चिंतन के मूल में हैं। यही नहीं, ये

मान्यताएं कमोबेश सभी विकासवादी चिंतकों को मान्य हैं। यहां 'विकासवादी चिंतक' से तात्पर्य 'शिक्षा के क्षेत्र में विकास-वादी' चिंतकों से है। प्राणी-शास्त्र के विकास-वाद से नहीं है शिक्षा के क्षेत्र में ग्रोथ थ्योरिस्ट (growth theorists) से है, ईवोल्यूशनिस्ट्स (evolutionists) से नहीं हैं।

मेरे विचार से इस पुस्तक की सैद्धान्तिक आधार-भूमि, जहां से पुस्तक के सभी निष्कर्षों के तर्क अपनी प्रामाणिकता प्राप्त करते हैं, निम्न प्रकार हैं।

(क) मानव विकासशील प्राणी है। वह अपनी सारी क्रियायें विकास के लिए ही करता है।

(ख) विकास स्वयं-स्फूर्त होता है। इसके अनुकूल वातावरण तो बनाया जा सकता है पर कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को विकसित नहीं कर सकता।

(ग) प्रत्येक जीवंत प्राणी अपने स्वरूप को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए विकास करता है।

कुछ और भी बातें हैं। पर उन पर पुस्तक में सविस्तार विचार किया गया है या फिर वे इन्हीं मान्यताओं में समाहित हैं। अतः यहां मैं केवल उपरोक्त मान्यताओं पर ही संक्षिप्त चर्चा करना चाहूंगा।

'विकास' इस पुस्तक का मूल मंत्र है। अतः 'विकास' की अवधारणा पर कुछ विचार करना आवश्यक लगता है। कई स्थानों पर ऐसा लग सकता है कि 'विकास' पूर्णतया प्राकृतिक प्रक्रिया है। 'विकास याने जीवात्मा का अनादि अविरत प्रयत्न।' जहां तक शारीरिक-विकास, इन्द्रिय-विकास तथा स्नायु-विकास का सवाल है यह पूर्णतया प्राकृतिक प्रक्रिया है भी। पर शिक्षा के संदर्भ में 'विकास' की अवधारणा इससे अधिक विस्तृत है। उसमें मानसिक विकास तथा सामाजिक-भावना व नैतिक विकास भी निहित है। जब गिजुभाई इन क्षेत्रों पर विचार करते हैं तो 'विकास' की अवधारण मात्र वैज्ञानिक व प्राकृतिक अवधारणा न रहकर नीतिशास्त्र की अवधारणा बन जाती है। इसमें दिशा निर्देश व मूल्यों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए इन्द्रियों तथा स्नायुओं की परिपक्वता तक तो विकास प्राकृतिक प्रक्रिया है पर स्वयं-निर्णय लेने की योग्यता, सद्-असद् के विकास की योग्यता ऐसे मूल्य हैं जिनका विकास मात्र प्राकृतिक नहीं है।

दूसरी बात यह है कि विकास स्वयं-स्फूर्त होता है। मानव विकास के मामले में आत्मलक्ष्यी होता है। पर विकास के अनुकूल वातावरण बनाया जा सकता है। वातावरण-निर्माण में परिस्थिति व उपकरणों का चुनाव आवश्यक है। चाहे हम मौखिक रूप से बालक को कोई निर्देश न दें, पर जिस तरह का वातावरण बना रहे हैं वह स्वयं ही दिशा निर्देश देगा। जैसे शिक्षण-उपकरणों में संगीत-वाद्यों की उपस्थिति संगीत की तरफ स्वयं ही प्रेरित करती है वैसे ही मानव को प्रताड़ित करने वाले उपकरणों की अनुपस्थिति भी प्रताड़ना को नकारती है। अर्थात् वातावरण निर्माण विकास को दिशा देता है और मनुष्य सीमित अर्थों में ही विकास में आत्मलक्ष्यी है। साथ ही विकास का स्वयं-स्फूर्त होना भी इसी अर्थ में सही है कि बालक पर कोई बाहरी दबाव नहीं है। प्रेरक वातावरण व उपकरण अपने आप ही विकास को स्फूर्त करने में मददगार होते हैं।

तीसरी बात है 'प्रत्येक जीवन्त प्राणी' का 'अपने स्वरूप को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए विकास' करना। इसमें भी यह ध्वनि निकल सकती है कि प्रत्येक जीवन्त प्राणी का अपना स्वरूप प्रकृति द्वारा पूर्व निर्धारित है। विकास उस पूर्व निर्धारित स्वरूप तक पहुंचने की प्रक्रिया मात्र है। मुझे नहीं लगता कि गिजुभाई इसको इतना यांत्रिक मानते हैं। वे गली के वातावरण को विकास के प्रतिकूल बताकर तथा बार-बार स्वतंत्रता तथा आत्म-निर्णय की बात करके कम से कम मानव के लिए यही कहते लगते हैं कि वह अपने स्वरूप का स्वयं निर्माता है। यहां 'आत्मलक्ष्यी' का अर्थ बन जाता है—अपने स्वरूप के निर्माण में स्वतन्त्रता चाहने वाला। फिर भी जब मेरी सवा दो वर्ष की बेटी मुझे और अपनी मां को लिखते-पढ़ते देख कर 'लिखने के लिए कुछ' मांगती है तो उसके अपने स्वरूप के निर्माण को हम प्रभावित कर रहे होते हैं।

कहने का अर्थ यह कि 'विकास' की अवधारणा तथा 'विकास का लक्ष्य अपने स्वरूप को पूर्णता तक पहुँचाने' की मान्यता में शिक्षा का एक आदर्श समाहित है। गिजुभाई के शब्दों में वह आदर्श है 'स्वातंत्र्य'। वे इस स्वतन्त्रता को बहुत ऊपर तक उठा देते हैं। 'अन्तरात्मा की आवाज की शास्त्र वचन से' मुक्ति की ऊंचाई तक। पर यह 'स्वतन्त्रता' निरंकुशता नहीं है। स्वतन्त्र याने स्वतन्त्र, अपने तन्त्र के अधीन। अर्थात अपने, स्व के, तन्त्र के निर्माण व उसके सद्-असद् के विवेक की योग्यता आनी आवश्यक है।

निःसन्देह यह पुस्तक शिक्षकों के लिए और शिक्षाविदों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसका हिन्दी अनुवाद श्री रामनरेश सोनी ने किया है। पुस्तक पढ़ते समय गिजुभाई स्वयं अपनी बात सीधे पाठक से कहने लगते हैं। इसका श्रेय अनुवादक को जाता है।

—रोहित धनकर

दिगन्तर, जयपुर

अनुक्रम

गिजुभाई का जीवन वृत्त

1885	15 नवम्बर को जन्म, जन्म स्थान चित्तल, सौराष्ट्र
1897	प्रथम विवाह स्व. हरिबेन के साथ
1906	द्वितीय विवाह श्रीमती जड़ीबेन के साथ
1907	पूर्वी अफ्रीका प्रस्थान
1909	स्वदेश आगमन
1910	बम्बई में कानून की पढ़ाई
1913	हाई कोर्ट प्लीडर, बढ़वाण केम्प
1913	श्री नरेन्द्र भाई का जन्म
1915	श्री दक्षिणामूर्ति भवन के कानूनी सलाहकार
1916	श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन से जुड़े
1920	बाल मन्दिर की स्थापना
1922	भावनगर में तख्तेश्वर महादेव मन्दिर के समीप टेकड़ी पर बने बाल-मन्दिर भवन का उद्घाटन पूज्या कस्तूरबा गांधी के कर-कमलों से।
1925	प्रथम मोंटेसरी सम्मेलन, भावनगर
1925	प्रथम अध्यापन मन्दिर स्थापित
1928	द्वितीय मोंटेसरी सम्मेलन अहमदाबाद की अध्यक्षता
1930	सत्याग्रह संग्राम में : शरणार्थी शिविरों में निवास, वानर परिषद सूरत, अक्षरज्ञान योजना प्रारम्भ।
1936	श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन से मुक्त
1936	करांची में आयोजित बाल मेले के अध्यक्ष : कच्छ का प्रवास
1937	सम्मान थैली भेंट
1938	गुजरात का प्रवास—राजकोट में अन्तिम अध्यापन मन्दिर शुरू किया
1939	23 जून को बम्बई में देहावसान

प्रथम खंड

मेरी दृष्टि में मोंटेसरी पद्धति

1

मोंटेसरी पद्धति से मैं परिचित कैसे हुआ ?

अगर मुझको किसी ने पहले ही सावधान कर दिया होता कि 'मोंटेसरी मदर' नामक पुस्तक पढ़ने से मेरी जीवन-धारा ही बदल जाएगी, जीवन एक नए प्रकाश से जगमगा उठेगा, और मुझको एक नयी क्रांतिकारी दृष्टि प्राप्त हो जाएगी, तो मेरे जैसा एक वकील इस पुस्तक को अपने हाथ में थामता या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

वस्तुतः किसी भी घटना के घटित होने के मूल में एक कार्यकारण परम्परा को स्वीकार करना ही पड़ता है। मैंने तो सोचा तक नहीं था कि इस एक पुस्तक के पढ़ते ही मेरा जीवन बदल जाएगा। मैंने अपने जीवन में ऐसे कितने ही अनुभव प्राप्त किये है कि जिनको मैं अद्वितीय और असाधारण रूप से प्रगतिशील मानता हूं। ऐसे प्रत्येक अनुभव में मुझको हर बार यह अनुभव हुआ है कि जैसे किसी अंधे को आंखें मिल जाएं तो उसको यह सारा संसार ही दिव्य, अद्भुत, अवर्णनीय, अनिर्वचनीय लगने लगता है। ऐसा ही एक अनुभव उक्त पुस्तक को पढ़ने से मुझको भी हुआ।

मुझको लगा कि अपने विद्यार्थी जीवन में मैंने जो नहीं सीखा, अफ्रीका के प्रवास में जो मेरे हाथ नहीं लगा, वकालत की पुस्तकों में जो नहीं मिला, अनेकानेक ग्रंथों के स्वाध्याय से और मित्रों के साथ की चर्चा-परिचर्चा द्वारा जो समझ में नहीं आया, वह इस छोटी-सी पुस्तक में मिल गया। मेरी इस बात में रंच-मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है। परिणामस्वरूप बाल-जीवन, शिक्षक-जीवन, समाज-जीवन और मानव-जीवन को मैं एक अलग ही अन्दाज से देखने लगा।

मैं इन विचारों को पढ़कर आनंद-विभोर हो उठा कि बालक स्वतन्त्र है, सम्मान-योग्य है, क्रियाशील और शिक्षण-प्रिय है। मेरे अपने

चिन्तन-मंथन ने भी इस विचार को पुष्ट किया। तभी तो मैं इस नए सत्य को अपने आंतरिक अनुभव द्वारा ग्रहण कर सका। बस, तभी से मैं इन विचारों की चर्चा अपनी मित्र-मंडली में, घर में पत्नी के साथ, अथवा अपने हम-पेशा साथियों के बीच करने लगा और इनको अपने व्यवहार में लाने लगा। मेरे एक नन्हें से पुत्र ने मेरे सम्पूर्ण जीवन को ही क्रियाशील बना डाला। अपने पुत्र की सहज और स्वाभाविक क्रियाएं देख-देख कर मैं आनंदित होने लगा। बच्चे से बातें कैसे करें, कैसे हाथ पकड़ कर उसको चलाएं, उसको क्या-क्या अच्छा लगता है और क्या-क्या अच्छा नहीं लगता है, कौन-कौन-सी चीजें उसके लिए अनुकूल हैं और कौन-कौन-सी प्रतिकूल हैं –मानो ये सारी बातें मुझको अपने-आप ही सूझने लगीं। संक्षेप में, मेरे जीवन में एक जबर्दस्त परिवर्तन आ गया।

वैसे, 'मोंटेसरी-मदर' एक साधारण-सी पुस्तक मानी जाती है–खास तौर से डॉ. मारिया मोंटेसरी द्वारा लिखी गई काव्यात्मक और शास्त्रीय विवेचन वाली इनकी अन्य पुस्तकों की तुलना में। इस पुस्तक में शिक्षा-सम्बन्धी उपकरणों की चर्चा आधी-अधूरी ही है। और लेखन, वाचन और गणित के प्रयोगों को लेकर भी इसमें बहुत कम लिखा गया है। पर इसमें बाल-सम्मान का विवेचन और विश्लेषण जिस प्रभावपूर्ण और सरल शैली में हुआ है, और बाल-शिक्षण की जो नयी दिशा इसमें उद्घाटित हुई है, मुझको आन्दोलित कर देने के लिए वह बहुत पर्याप्त थी। मोंटेसरी पद्धति के शिक्षा-सम्बन्धी उपकरण मैंने देखे होते या न भी देखे होते, पांच वर्षों तक इस पद्धति का गहन अध्ययन करके मैंने इससे इतना अनुभव अर्जित किया होता या न भी किया होता, किन्तु अपने बालकों के विकास में हम कब, कहां बाधक बन जाते हैं, कहां-कहां उनके मन की स्थिति को समझे बिना हम उनकी कोमल भावनाओं को दबाते रहते हैं, अपने हठपूर्ण आग्रहों के कारण, अपने तर्कों-वितर्कों के द्वारा और अपने अन्य प्रयत्नों से हम उनको कब-कैसे अपने जैसा ही बनाने की उधेड़-बुन में लगे रहते हैं, इन बातों के ज्ञान को मैं अपना स्थाई ज्ञान मानता हूं। मुझको लगता है कि जीवन भर मोंटेसरी-पद्धति की उपासना करने के लिए और उसका प्रचार करते रहने के लिए उसका इतना ज्ञान पर्याप्त है।

जैसे ही मैंने यह नयी दृष्टि ग्रहण की, वैसे ही मैं बाल-जीवन की गहराइयों में उतरने लगा। जब मैं देखता कि मेरे पड़ौस के एक सेठजी अपने बेटे को अपनी गोदी में लिये उसको चुटकियां भरते और गालियां देते, कि 'नासपीटे ! तुझको पढ़ना थोड़े ही है' रोज-रोज स्कूल ले जाते हैं, तो मेरा अन्तर्मन रो उठता। मुझको अपनी शाला का विद्यार्थी-जीवन याद हो आता। अनेक प्रकार की सख्तियों का वह प्राचीन वधस्थल मानो मुझको पुकार-पुकार कर कह रहा हो : 'उठ, खड़ा हो ! वकालत छोड़ और बाल-जीवन के चरणों में अपनी सारी शक्ति और सारा सामर्थ्य अर्पित कर दे !' मैं भाग उठा। मैंने पांच वर्षों तक इस नयी शिक्षा-पद्धति की उपासना की और उसके सार्वदेशिक और सार्वभौमिक जीवन-तत्त्वों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया।

2
नयी दृष्टि : नया प्रकाश

मोंटेसरी पद्धति सिर्फ शिक्षण-पद्धति ही नहीं है। न यह शिक्षा जगत का एक क्रांतिकारी विचार है, न वैज्ञानिक जगत का एक नूतन सत्य है, न आर्थिक समस्याओं का एकांतिक समाधान या जवाब है, न ही वर्तमान राजनीतिक उलझन का रामबाण इलाज! यह तो एक दृष्टि है, एक नया प्रकाश है।

मानव जीवन अखंड और अविभाज्य है। अनेक पहलू हैं इसके। यह नया प्रकाश हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रकाशित करता है, उसके प्रत्येक पक्ष पर अपनी नयी किरणें फैलाता है। यह नया प्रकाश शिक्षण में नयी पद्धति की स्थापना करता है, शिक्षा में नये आदर्शों का शुभारम्भ करता है, शिक्षक की प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि करता है, सामाजिक-निर्माण की भूमिका नए सिरे से निर्मित करता है, मनोविज्ञान को नयी दृष्टि प्रदान करता है, व्यक्ति-व्यक्ति, समाज-समाज एवं राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सम्बन्धों की नयी कड़ियां जोड़ता है, तथा मनुष्य की शक्ति और उसके चारित्र्य की सफलता का नया मूल्यांकन करता है।

यह पद्धति सिर्फ एक शिक्षण-पद्धति ही नहीं है, अपितु जीवन का एक दर्शन भी है। जिस प्रकार से कोई व्यक्ति हिमालय की उत्तुंग चोटी पर चढ़ कर चारों ओर दृष्टिपात करे तो उसे आस-पास का सम्पूर्ण क्षेत्र हस्तामलक-सा नजर आने लगता है–गहरी घाटियां, ऊंची पहाड़ियां, विशाल महानद, क्षीणकाय नदियां, गगनचुंबी पेड़ और उनके नीचे क्रीड़ा करते नन्हे-नन्हे तृणांकुर–सबके सब जिस प्रकार एक नजर से सुस्पष्ट, सुसंगत, सार्थक व सुन्दर लगने लगते हैं, उसी प्रकार से शिक्षा, समाज, धर्म आदि से ऊपर उठकर मोंटेसरी शिक्षा की इस नूतन दृष्टि से चतुर्दिक् दृष्टिपात किया जाए तो तत्काल समझ में आ जाता है कि यही तत्त्व जीवन-दर्शन है।

3

शिक्षण में अभिनव योगदान

अगर मोंटेसरी पद्धति को अंगीकार कर लिया जाए तो आज के शिक्षक को ज्ञान देने की चिन्ता से मुक्ति मिले। उच्चासन पर बैठे अधिकारी की भांति शिक्षा-दान के घमंड से मुक्त होकर अगर वह शिक्षक अपने विद्यार्थी के पास इस शिक्षण-पद्धति का अध्ययन करने बैठ जाए तो परिणामस्वरूप वह विद्यार्थी को सजा, पुरस्कार, अंक, फेल-पास और रटंतविद्या से मुक्त करेगा। अपनी विद्वत्ता के प्रकाश से विद्यार्थी को चमत्कृत या अंध करने की बजाय वह स्व-शिक्षण के मार्ग पर स्वतः विचरने वाले बालक के पीछे-पीछे जाकर स्वयं अपने लिए नए ज्ञान का संपादन करेगा। आज के शिक्षक को धैर्यवान, स्वाधीन, संयमी, स्नेहशील तथा शास्त्रीय बनना पड़ेगा। मिथ्याभिमान तजकर नम्र बनना होगा। संक्षेप में, घर या बाहर, शाला में या समाज में आज का शिक्षक नया जन्म लेगा। और, यह सब उद्भूत होगा मोंटेसरी शिक्षा के इस नए दृष्टिकोण से।

इस नए दृष्टिकोण को अंगीकार करने वाले शिक्षाविद बालकों को पाठ्यक्रम और समय-विभाग-चक्र की बेड़ी से मुक्त करेंगे तथा परीक्षा-निरीक्षा के वर्तमान प्रयासों को सतही तौर पर लेंगे। अब तक शिक्षा

का उद्देश्य या तो सुनागरिक बनाना, राजनिष्ठ वफादार नागरिक बनाना, अपने पैरों पर खड़ा रहने वाला आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र इंसान बनाना या एक-दूसरे पर विजय हासिल करके स्वछंदतापूर्वक जीवन व्यतीत करना रहा है। नया शिक्षाविद इन तमाम उद्देश्यों को त्याग कर सिर्फ मानवीय विकास को ही शिक्षण के उद्देश्य के रूप में स्थापित करेगा। विकास के समक्ष वह अन्य सबों को गौण मानेगा। विकास को ही पाठ्यक्रम मानेगा और इसी को परीक्षा। मानव-विकास याने व्यक्ति-विकास की पराकाष्ठा में समष्टि-विकास की स्वाभाविकता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की सम्पूर्णता में समष्टि की मुक्ति, व्यक्ति की स्वाधीनता में समष्टि का स्वातंत्र्य–इस जीवन विकास को उद्देश्य के रूप में ग्रहण करके शिक्षाविद शिक्षा की योजना बनाएंगे। मोंटेसरी शिक्षण के इस नए प्रकाश से जगमगाती हमारी शालाएं कुटुम्ब-जीवन के नए पाठ पढ़ाएंगी, गुंजार करती मधुमक्खियों का एक मधु-कोष बनकर औद्योगिक जीवन की नई घटनाओं को उजागर करेंगी और सच्चे अर्थ में सहकार एवं सहजीवन का सच्चा विद्यालय बन जाएंगी। ज्योंही शिक्षण में नई दृष्टि को मान्यता मिलेगी, त्योंही वर्तमान शालाओं के व्यय का तथा माध्यमिक एवं महाविद्यालयी व्यवस्था व शिक्षण का प्रश्न अपने आप हल हो जाएगा।

शिक्षा जीवन-व्यापी प्रक्रिया है। इस प्रवृत्ति का उद्गम हमारे भीतर से है। उद्गम का मूल है अंतरात्मा की भूख। कोई आदमी किसी को सिखा नहीं सकता। विकास की आधारशिला है अनुभव। अनुभव स्वतंत्र क्रिया में निहित है, और स्वतंत्र क्रिया बाहरी अविरोध में एवं भीतर के यथेच्छ, अनवरत, अप्रतिहत आविष्कार में निहित है। नयी दृष्टि शिक्षा में इसी आविष्कार का पोषण करेगी, मार्ग के अवरोधकों को हटा कर व्यक्ति के समक्ष अपने जीवन उद्देश्य को सिद्ध करने की अनुकूल स्थितियां जुटाएगी।

विकास याने जीवात्मा का अनादि, अविरत प्रयत्न। इस प्रयत्न में जो भी सहायक है उसका स्वीकार और अन्य सबका त्याग। यह नयी दृष्टि त्याग-स्वीकार की , विधि-निषेधों की सुन्दर मर्यादा निर्मित करती है। मोंटेसरी के नए प्रकाश में संचालित नई शालाओं में 'सिखाने' की बजाय

'सीखने' की तरफ, पाठ्यपुस्तकीय शिक्षण के बजाय स्वलेखन की तरफ, अनुकरणों की बजाय स्वयंभू सृजन की तरफ बढ़ती गति को हम देखेंगे। नयी दृष्टि याने मात्र संशोधन-परिवर्द्धन नहीं, समाधान नहीं, समझौता नहीं अपितु नौका-संतरण की नयी दिशा-क्रांति, विप्लव। पुरानी शिक्षा चाहे कितनी ही अच्छी से अच्छी हो, वह क्रोधविहीन सजा का उपदेश देती है, एक दिखावटी, निर्दोष उत्तेजन प्रदान करती है, जबकि नयी दृष्टि दण्ड और पुरस्कार दोनों का बहिष्कार करती है। पुरानी शिक्षा प्रणाली सरल रीति से प्रसन्न करके शिक्षा देती है, जबकि नयी दृष्टि तब तक प्रतीक्षा करती है जब तक कि रस की उत्पत्ति स्वयं नहीं हो जाती। पुरानी शिक्षा शिक्षण की सफलता को इन बातों से मापती है कि ज्ञान कितना मिला, सुन्दर व उत्तम ज्ञान कितना हासिल हुआ। जबकि नयी पद्धति शिक्षण का मूल्यांकन इस रूप में करती है कि हर प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करने की बालक की शक्ति कितनी बढ़ी। पुरानी पद्धति आज्ञापालक को स्वाधीन मानती है, व्यवस्थित मानती है, जबकि नई पद्धति आज्ञापालन करने के स्वाभाविक आनन्द की उत्पत्ति में कृतकृत्यता मानती है। यह है पुरानी और नयी दृष्टि का फर्क। ये दोनों दृष्टियां साथ-साथ नहीं चल सकतीं। इनमें समन्वय की बात सोचना भ्रममूलक अज्ञान है।

4
विज्ञान में नया योगदान

मोंटेसरी पद्धति ने विज्ञान में एक नया प्रदेश निर्मित किया है। अब तक विज्ञान के विषयों में खनिज आदि मृत-सृष्टि तथा मनुष्येतर जीवंत-सृष्टि विज्ञान का विधेय बनी थी। पर मनुष्य भी विज्ञान का, वैज्ञानिक अवलोकन और प्रयोग का विधेय है, यह बात डॉ. मोंटेसरी ने ही पहली बार सामने रखी है। प्रायोगिक मनोवैज्ञानिकों ने निश्चय ही इस दिशा के द्वार खोलने की शुरुआत की थी। पर अगर मनुष्य को समझना हो, उसकी समझ और अध्ययन को लेकर यह जानना हो कि मनुष्य क्या है; और उसके ज्ञान को लेकर यह पता लगाना हो कि मानवीय विकास कहाँ और किस में निहित है,

तो एक ही उपाय है, और वह यह कि मनुष्य को, याने बालक को उसकी स्वाभाविक स्वतंत्र स्थिति में देखा-परखा जाए।

मोंटेसरी ने बालक को आत्म-विकास साधने का अवसर प्रदान किया। इसमें उसे जीवन के अनेक पहलुओं के सत्य दिखाई दिये। प्रत्येक बालक बीज रूप में पूर्ण है वह अहर्निश विकास के लिए संघर्ष करता रहता है। वह अपने आप अपना भोजन तय करता है और यह समझता है कि किस परिमाण और किस रीति से ग्रहण करे। अपने आप ही वह समय-चक्र तय कर लेता है और स्वयं ही अपने व्यवस्था सम्बन्धी नियमों की रचना करता है।

बालकों का प्रत्यक्ष दर्शन-अवलोकन करके मोंटेसरी ने वर्तमान शिक्षा-मनोविज्ञान में अपूर्व परिवर्तन किये हैं। बालकों को देख-देख कर उसने जाना कि मनुष्य अपने लिए स्वाधीनता चाहता है, स्वराज्य चाहता है और देता भी है। उसे सत्ता की जरूरत नहीं, न पराधीन रहना पसंद। न वह औरों से बढ़ चढ़कर दिखाना चाहता है, न अपनी तुलना में दूसरों को नीचे गिराना चाहता है। वह तो सिर्फ अपने विकास और अपनी प्रगति में संलग्न रहना चाहता है। अपने से ही वह अपनी तुलना करना चाहता है। उसे तो अपनी ही अंतर्मुखता पसन्द है। इस दर्शन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान स्पर्धा, इनाम आदि उत्तेजक बालक के विकास हेतु विघातक हैं, बल्कि विनाशक हैं। स्वतंत्र वातावरण में विचरने वाले बालकों ने अकल्पनीय सृजन के प्रमाण दिये हैं । संगीत, चित्रकला या लेखन में, जिस उम्र में यह समझा जाता है कि बालक कुछ भी नहीं कर सकता, उस उम्र में बालकों ने मोंटेसरी शालाओं में चामत्कारिक परिणाम दिखाकर डॉ. मोंटेसरी द्वारा कहलवाया है कि सृजन स्वातंत्र्य का अपत्य है। ऐसे उन्मुक्त वातावरण में बालकों ने एकाग्रता, क्रिया-शक्ति, बौद्धिक-शक्ति, तथा कल्पना-शक्ति के जो बहु-विध प्रदर्शन किये हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप शिक्षण में एक अभिनव प्रवाह सामने आया है।

शिक्षण और मनोविज्ञान की परिभाषा एक रही है, पर इनके अर्थ में जबर्दस्त परिवर्तन सामने आया है। पुनरावर्तन आवश्यक है, पर बालक की

आंतरिक जरूरत के अनुरूप उसे ऐच्छिक होना चाहिए; शिक्षण की सफलता के लिए स्मरण-शक्ति आवश्यक है पर रटाने से वह बढ़ेगी नहीं और कृत्रिम प्रेरणा से बहुत कम काम दे पायेगी। विषयों के ऐच्छिक पुनरावर्तनों द्वारा, बिना किसी बाहरी उत्तेजन के, अनेक वस्तुओं का ज्ञान हासिल करने वाले बालकों को जब समीप जाकर देखा तो ज्ञात हुआ कि स्मृति की आधारशिला आंतरिक आनंद है। बुद्धि के लक्षण तो तर्कशास्त्रियों ने ही निर्धारित कर बताए हैं, परन्तु उन्हें अपने विकास में स्वाभाविक रूप से ही बालक प्रयुक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, स्वतः अपना विकास करने वाला बालक तुलना, साम्य, विरोध, क्रम, वर्गीकरण, निर्णय आदि का स्वयं उपयोग करता है और स्वयं सत्य का निश्चय कर लेता है। बालक बार-बार कोई काम करता है और अपनी क्रियाशक्ति को, या कहें संकल्प-बल को सुदृढ़ बनाता है। यह अवलोकन करने पर डॉ. मोंटेसरी ने नियम बनाया कि अमुक-अमुक नियमों का जबर्दस्ती पालन करवा कर संकल्प-बल पैदा नहीं किया जा सकता। वह तो स्वेच्छापूर्वक बार-बार किये जाने से ही उद्भूत होता है।

मोंटेसरी ने बालक-मन के अवलोकन की प्रयोगभूमि रच कर बाल-मनोविज्ञान के नए-नए प्रदेश प्रत्यक्ष किए हैं, उन्हीं से बाल-विकास सम्बन्धी साहित्य रचा है। मोंटेसरी-पद्धति का उद्भव वहीं से हुआ है। फिर भी डॉ. मोंटेसरी के कथनानुसार अभी तो यह प्रयोगशाला का पहला-पहला ही अध्याय है। अभी तो बाल-विकास के अनेक दर्शन सामने आने शेष हैं अतः मानव-जीवन के अंत तक मोंटेसरी-शाला प्रयोगशाला ही बनी रहेगी।

यहाँ के एक बाल-मन्दिर का उदाहरण लें और एक ही विषय को छुएं। चित्रकला में बालकों ने जो तरह-तरह के चित्र बनाएं हैं उन्हें देखकर यह कत्तई नहीं लगता कि यह सब नन्हें बालकों के लिए कोई असंभव चीज है। इन्हीं से चित्रकला विषय में नया प्रकाश पड़ता है। क्या कभी किसी ने सुना होगा कि नौ वर्ष की उम्र का बालक अपनी कल्पना से किसी दिन पांच सौ, हजार, दो हजार, तीन-तीन हजार चित्र भी बना सकता है? रंगों के

चयन, मिश्रण और संयोजन को देखकर सबों को यही लगा कि ये चित्र किसी बालक ने नहीं बनाए! मैडम फिशर ने रोम की शाला में तीन-चार वर्ष की आयु के बालकों को एक भी बूंद जमीन पर गिराए बगैर किसी संस्कारित-संयमित व्यक्ति जैसी शांति एवं स्थिरता से जब गरम सूप ले जाते देखा, जबकि बच्चे मुंह पर बैठी मक्खी तक को उड़ाए बगैर आगे चलते रहने का आग्रह संजोये थे, तब आंखों से सभी कुछ देखते हुए भी उसे अविश्वसनीय-सी बात लगी थी। धीरज का ऐसा अपूर्व उदाहरण देखकर वह मोंटेसरी पद्धति पर धन्य हो गई, और उसी धन्यता का उन्होंने अनेक बालकों को पाठ पढ़ा दिया। अभी तो मोंटेसरी-शाला की इस प्रयोगशाला में जाने कितने चमत्कारपूर्ण दृश्य देखने में आएंगे। वहां के स्वतन्त्र वातावरण में विचरते बालक कैसे नाटक खेलेंगे, कैसी कविताएं रचेंगे, भूगोल व खगोल के प्रदेशों में किस नए तरीके से प्रविष्ट होंगे, पैरों तले की साधारण धूल से, पतंगों की पंखों से, दूर्वा के तृणों से तथा कुत्ते के पिल्लों से कैसे-कैसे वैज्ञानिक सत्य, काव्य-सामग्री व रसायन ढूंढ निकालेंगे, वह सब अभी सामने आना शेष है। मानव मन का क्षेत्र अति गूढ़, गहन और विशाल है। इसका अध्ययन बहुत रोचक है। ऐसे रोचक अध्ययन के निमित्त डॉ. मोंटेसरी ने प्रयोगशाला स्थापित करके अभी-अभी मनोविज्ञान का पहला कदम रखा है।

5
मनोविज्ञान में नया योगदान

जिस तरह से विज्ञान के क्षेत्र में मोंटेसरी ने नई किरणें प्रकाशित की हैं, उसी तरह मनोविज्ञान में भी वे पुरानी बात को नए ढंग से व्यक्त कर रही हैं–पुराने चोले में नए प्राणों का संचार कर रही हैं। विलियम जेम्स आदि मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि बालक का मन अस्थिर होता है, भटकता रहता है। उसे स्थिर बनाने के सफल प्रयत्नों पर ही शिक्षण का आधार है। जबकि मोंटेसरी ने शाला के अपने अनुभवों द्वारा यह व्यक्त किया कि बालक का ध्यान न्यूटन और आर्कमिडीज से भी बढ़कर सहज स्वाभाविक होता है।

बाल मन्दिर में बिच्छू निकला। पूरा माहौल गूंज उठा। एक-एक बच्चा उसे देखने बाहर निकल आया। वे बिच्छू के पीछे-पीछे चले। लौटकर अपनी कक्षा में काम में जुट गए। और दूसरी तरफ मोंटेसरी-पद्धति के गड्डा-पेटी में खोए बालकों को पता तक न लगा कि बाल-मन्दिर में क्या-कुछ घटित हुआ था! बाल-मन की एकाग्रता के ऐसे प्रदर्शन विलियम जेम्स की उक्त मान्यता को पलटने हेतु पर्याप्त हैं।

स्थिरतापूर्वक बिठाए गए बालक अगर आवाज करें या शोर मचाएं तो उन्हें बाहर निकाल दो। जो न मानें उन्हें जबर्दस्ती ठिकाने बिठा दो। अनुशासन याने हाथ-पैर बांध कर बैठे रहो। अगर कोई काम-काज करोगे तो अनुशासन और व्यवस्था भंग हो जाएगी। ये तमाम बातें संकल्प-शक्ति के विकास हेतु इधर व्यावहारिक समझी जाती रही हैं। क्रिया करना और क्रिया न करना दोनों क्रिया-शक्ति के अंग हैं अभी तक यही माना जाता रहा है कि क्रिया न करने से क्रिया न करने की शक्ति का अभ्यास होगा। लेकिन डॉ. मोंटेसरी ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिखाया कि क्रिया करने की छूट देने से क्रिया न करने की शक्ति पैदा होती है। हाथ-पैर काट देने से चलने की या चलते हुए को रोकने की शक्ति नहीं आती; वह तो हाथ-पैरों के उपयोग करने से ही आती है। इस प्रकार क्रिया-शक्ति के अर्थ में नया प्रकाश पड़ता है।

बुद्धि याने ज्ञान धारण करने की शक्ति–यह अधूरा विचार है। कोई मनुष्य ज्ञानी है, दूसरों के कथन को समझ सकता है, दूसरों की विचारधारा के तर्क का अनुसरण कर सकता है तो वह अधूरा बुद्धिमान है। पूर्ण बुद्धिमान वह है जो अपने-आप अपने प्रश्नों पर पूर्वा-पर परिप्रेक्ष्य में विचार कर सकता हो, और अपने-आप उनका समाधान ढूंढ सकता हो।

डॉ. मोंटेसरी ने मनोविज्ञान के इस सिद्धान्त को प्रयोग में लाकर व्यापक बनाया है। उन्होंने सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्य की वास्तविक शिक्षा विद्वत्ता में नहीं, सद्-असद् विवेक-शक्ति में निहित है। कल्पना-शक्ति

सम्बन्धी विचारों को भी डॉ. मोंटेसरी ने शाला में बैठ कर अर्जित-स्थापित किया है। कल्पना-शक्ति का मूल वास्तविकता है। वास्तविकता से रहित जो कुछ भी होगा वह एक तरह से अतृप्त एवं रुग्ण मनुष्य की मनःस्थिति होगा। मोंटेसरी ने यह बात बालकों को शाला में वास्तविक जीवन जीने की स्थितियां देकर सही सिद्ध की है।

एक स्थल पर मोंटेसरी ने प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक की भांति अपने अभिप्राय को सुन्दर रीति से रखा और बताया है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में अवगाहन करने की हमारी वर्तमान रीति कितनी हास्यास्पद और बेढ़ंगी है! पेड़ के पत्तों और डालियों की सूक्ष्मतया गिनती करने से या उनके रूप-रंग की सतही जानकारी लेने से वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन सम्भव नहीं। ऐसे ही मनुष्य का बाहर से मूल्यांकन करके, उसकी शिक्षा के आधार पर, या मर्यादित परिस्थिति में उसके प्रदर्शनों को देखकर मनुष्य का अध्ययन याने मनोविज्ञान का अध्ययन संभव नहीं। दर्शन, धर्म या समाज मनुष्य के सम्बन्ध में चाहे जो मान्यता रखें, उनके आधार पर मनोविज्ञान नहीं रचा जा सकता। मनोविज्ञान रचने के लिए डॉ. मोंटेसरी हर प्रकार के शास्त्र की शास्त्रीयता, सावधानी, धैर्य, अवलोकन और इनसे प्राप्त अनुभवों की तो मांग करती ही हैं,पर इन सबों से ऊपर मानवीय सत्य को स्थान देने की सिफारिश भी करती हैं। सामान्यतया लोग कहेंगे कि बालक हठीला है, जिद्दी है, क्योंकि मां को यूं बिठा कर कहानी कहने की मांग करता है, पिता की गोदी में यूं ही मुंह बना कर बैठने की जिद करता है, रसोई घर में अमुक खास बाटकी में ही दाल मांगता है, आदि-आदि। लेकिन बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर डॉ. मोंटेसरी कहती हैं कि बाल्यावस्था में अमुक-अमुक बातें इसी तरह से होनी चाहिए और ऐसे ही अच्छी लगती हैं, बाल-विकास की दृष्टि से यही स्वाभाविक व आवश्यक वस्तु है। स्थापित सिद्धांतों पर बालकों के लिए मनमानी बात नहीं कही जा सकती। अवलोकन के बाद ही कोई नियम तय होता है। इन्हीं विचारों का नाम है मनोविज्ञान अथवा प्राचीन मनोविज्ञान में नया प्रवाह।

6
समाजशास्त्र में नया दृष्टिकोण

यदि मोंटेसरी पद्धति के सिद्धान्त एवं प्रयोग पचास वर्षों पूर्व चारों ओर फैल गए होते तो आज बोल्शेविज्म संबंधी जो विचार करने पड़ रहे हैं, उनकी शायद आवश्यकता नहीं पड़ती। बोल्शेविज्म सत्ता व धन की असमानता के कारण उत्पन्न हुआ है, बल्कि इनके बजाय सत्ताधिकारियों एवं धनिकों के उन्माद की वजह से उपजा है। यह उन्माद शिक्षा के कारण ही जनमता आया है। हमारी शिक्षा समाज के एक वर्ग को अधिकार भोगने के लिए ही नहीं, अधिकारों का अभिमान करने के लिए पोषित करती है, और इसके विपरीत दूसरे वर्ग को उनकी गुलामी में आनंद लेने की सीख देती है। कैसी विडंबना है–गुलाम किसी काम को करने में अपना मान समझता है और मालिक उनकी गुलामी लेने में। जैसे ही मालिक की गुलामी का तार तीव्र हुआ नहीं कि विसंवाद जन्मा नहीं। विसंवाद का भयंकर स्वरूप ही आज का बोल्शेविज्म है।

अगर मनुष्य ने दूसरे से अपना काम करवाने को हीनता का कार्य समझा होता, अगर यह मान लिया होता कि दूसरे से काम लेने में अभिमान नहीं शर्म की बात है, इसमें काम लेने वाले व्यक्ति की पराधीनता निहित है, यह समझा होता तो सचमुच अपना काम खुद करने का विचार पहले पैदा हुआ होता और इसके साथ ही साथ वर्गगत अभिमान का भाव नष्ट हो गया होता। लेकिन आज तलक किसी शाला या शिक्षक ने यह कहां कहा कि जो राजा या अमीर अपने बूट स्वयं नहीं पहन सकता, वह अपंग है! स्वयं काम करना जीवन की स्वाभाविक वृत्ति है। मोंटेसरी की प्रयोगशाला में ही हमें देखने को मिला है कि समाज ने ही मनुष्य को गुलाम बनाया है। दूसरी शाला में राजा का पुत्र अकड़ कर घूमता है कि कहीं हाथ मैले न हो जाएं, इसलिए माटी के कामों में वह नहीं बैठता। पर अगर उस राजकुमार को भी मोंटेसरी शाला के स्वतन्त्र वातावरण में उन्मुक्त छोड़ दिया जाए और स्वैच्छिक काम करने की छूट दे दी जाए तो जूतों को सजा कर रखने में तथा सूप से धूल को

चालने में वह इस तरह खो जाएगा कि उन कार्यों में वह राजा की भांति उभर आएगा। अर्थात् उसकी स्वाभाविक वृत्ति के अब तक अवरुद्ध होने के कारण ज्योंही वह स्वैच्छिक प्रवृत्ति को देखेगा, कि दुगुने जोश से भेड़िये की तरह अपने शिकार पर टूट पड़ेगा। हम राजा के राजापन को भले ही न मिटायें, मिल मालिक की मिल्कियत को भले ही न छीनें, पर अगर उन्हें एक बार शिक्षण के माध्यम से अपना काम खुद करने का गौरव अनुभव करने दें, खुद काम करने का आनंद लूटने दें तो राजा होते हुए भी राजा के दुःखों के बजाय वह मनुष्य होने का सुख भोगेगा। मोंटेसरी पद्धति की प्रयोगशाला में हमें यह एक अमूल्य रसायन प्राप्त होता है।

विवाह

हमारे समाज को अनेक प्रश्न बेचैन करते हैं। उनका समाधान ढूंढने के लिए हम भगीरथ प्रयत्न भी करते हैं, पर वे अनुत्तरित, अन-सुलझे रह जाते हैं। कभी धर्म-ग्रंथ के पन्ने पलट कर देखते हैं, कभी समाजशास्त्र को उलटते-पलटते हैं, लेकिन प्रत्येक प्रयत्न के बाद भी उलझन घटती नहीं, बढ़ती जाती है।

स्थापित धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियां कहती हैं कि जातिगत बंधन उचित हैं, वैवाहिक बंधन आवश्यक हैं। लेकिन उनके वर्तमान परिणामों से जीवन निष्फल व असह्य बनता जाता है। कठिनाइयां दूर नहीं होती। लोग कई रास्ते बताते हैं पर निराशा उन रास्तों से कहीं अधिक है। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान तो तभी संभव है जब मनुष्य स्वभाव को, उसकी आंतरिक मनोवृत्ति और आंतरिक क्षुधा को जाना जाए और उसे तृप्त करने का ऐसा प्रबंध किया जाए कि जो व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए उपादेय सिद्ध हो। यह प्रबंध स्वयंवर रचने में, कन्या की पसंद से वर चुनने में या किसी मध्यस्थ द्वारा वर-वधू के गुण-दोष तय करके उन्हें थोपने में नहीं। यह प्रबंध मनुष्य की भावनाओं को देखकर किया जाता है कि वह विवाह के योग्य है अथवा नहीं, अगर है तो किसके साथ उसका योग सफल रहेगा। पर इसके लिए तो मनुष्य को जन्म से ही देखा जाना चाहिए। स्नेह संबंधों को विकासमान स्थिति में

रखकर जाति-जाति के दरमियान आकर्षण, समान व्यसन, आदर्श आदि की खोज की जानी चाहिए और तदुपरांत सहकार, सहजीवन की स्वयंभू-वृत्ति में से लग्न-संबंध उद्‌भूत होना चाहिए। वैवाहिक जीवन में हम समर्पण और निरंतरता की अपेक्षा रखते हैं, लेकिन जब सम्बन्धों की रचना ही स्वाभाविक मिलन की आवश्यकता पर नहीं होती तो जाहिर है कि अलग-अलग तरह से उसमें विकृतियां आ जाती हैं। स्वाभाविक मिलन का आधार मेरी समझ के अनुसार 'व्यतिषजति पदार्थान् आंतरः कोऽपि हेतुः' या 'मनोहि जन्मान्तर संगतिज्ञ' अर्थात नैसर्गिक आकर्षण याने प्रेम। ऐसा प्रेम स्वतः समर्पित होता है। इसमें स्वाभाविक निरंतरता होती है। इसी में मानव-जीवन का उद्धारक बल निहित रहता है। यह सब पता लगाने के लिए बालकों को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। निर्दोष स्नेह-सम्बन्धों में से उनके जीवन-सम्बन्धों को पहचान कर उन पर वैवाहिक-जीवन की रचना करनी पड़ेगी।

मेरे अनुभव में दो बालकों के परस्पर आकर्षण की छाप सुदृढ़ है। मुझे पता न था कि ऊपर से रूप में असमान होने पर भी वे भीतर से एक-दूसरे के पूर्णतः पूरक होंगे। मुझे लगा कि वे एक-दूसरे की प्रवृत्ति के लिए घातक हैं अतः उन्हें अलगाने के लिए मैंने एक हजार एक प्रयत्न किये, पर परिणामस्वरूप वे तो प्रच्छन्न रूप से अंदर और बाहर से परस्पर और ज्यादा समीप आने लगे। मुझे लगा कि वैसा करके मैं तो उन्हें समीप लाने में और अधिक मदद करने लगा था। जब तक वे कक्षा से बाहर नहीं चले जाते तब तक मेरे चंगुल से छूटने के लिए आँखों के इशारों द्वारा संदेश पहुँचाने का प्रपंच रचने लगे। मैं समझ गया कि ये तो गए हाथ से। उन दोनों की आत्मा के स्वाभाविक आकर्षण के मध्य आकर मैं उन्हें क्या सिखा सकता था? चित्रकारी करने या किताब पढ़ने या गणित के हिसाब करने की दिखावटी तरकीब के नीचे वे तो मिलने की युक्तियां-प्रयुक्तियां रचते थे। मुझे एकाएक सूझा कि ये तो पुराने सम्बन्धी हैं। रूप-गुण की दृष्टि से असमानता तो हमारे खयाल से है, अपनी दृष्टि से तो वे एक-दूसरे के लिए लैला-मजनूं से भी बढ़कर हैं। मैने अपने मित्रों से कहा, 'चलो, तुम्हें दिखाऊं; वैवाहिक-जीवन की सफलता का गहन रहस्य।'

इस तरह से शिक्षक, समाज, विद्यार्थीगत धर्म आदि सबों के सामने तन कर एक हो जाने वाले कितनेक देखे हैं? ऐसी मनोवृत्ति और मानसिकता पर कितनेक वैवाहिक सम्बन्ध बने हैं? मैं सोचता हूं कि अगर बच्चों के माता-पिता उनके पारस्परिक आकर्षण से जोड़ी रचने का काम हमें सौंप दें तो समाज के अनेक दुःख मिट जाएं। मैंने बालकों को मैत्रीपूर्ण जीवन-यापन की साधना का अवसर प्रदान किया। आज वे टेबिलों को सटाकर पास-पास बैठते हैं। अलग-अलग पेंसिल देता हूं तो वे सबों को मिला देते हैं। एक बालक पेंसिल की नोक निकलता है और दूसरा चित्र बनाता है। अगर जाति-अनुकूल भिन्न प्रवृत्तियां करते हैं तो वहां भी साथ ही काम करते हैं। भाई पढ़ता है, तो बहन गीत गाती-गाती चित्र बनाती है। किसी भाई का नापसन्द चेहरा बहन को प्रिय लगता है और किसी बहन का कर्णकटु राग भाई को प्रिय लगता है। झाड़ने-बुहारने, साफ-सफाई व अन्य कार्यों में वे यथा-संभव साझेदारी रखते हैं। लड़ने के लिए भी साझे की छड़ी रखते हैं। काम करते-करते कभी-कभार थकान उतारने को लड़ भी लेते हैं। वे कदाचित हमें देख लें तो हँस पड़ते हैं। वे प्रसन्न रहते हैं। अब से तो वे 'गिजुभाई' पर भी नाराज नहीं होते। उन्हें सह-जीवन की छूट होने के कारण वे अब बहाना भी नहीं करते और यथा-मति, यथा-शक्ति अपना विकास किये चलते हैं। पाबंदियों और स्वस्थ प्रवृत्तियों के अभाव से इस आयु के बालक जिन अनेक निम्न-स्तरीय प्रवृत्तियों की तरफ झुक जाते हैं, उस तरफ ये बालक न मुड़कर स्वस्थ जीवन बिताते हैं। इस स्थिति में मुझे सामाजिक वैवाहिक सम्बन्धों की समस्याओं का समाधान नजर आता है। इसके लिए स्वतंत्रता की हिमायत करने वाली मदाम मोंटेसरी का अगर उपकार न मानें तो किसका मानें?

जाति

मोंटेसरी शाला में बालकों को जाति-भेद भूल कर रहते देखा जा सकता है। माता-पिता की धर्म-रक्षा सम्बन्धी फरियाद सुनकर बालकों के लिए अलग-अलग बर्तनों में पीने का पानी रखा गया, लेकिन बालकों ने उसे

स्वीकार नहीं किया, या यों समझना चाहिए कि घर-परिवार की व्यवस्था का ही उन्होंने यहां अनुसरण किया था। प्रवास में किसी भी तरह की उकसाने वाली सीख के बगैर बालक जैसे एक ही जाति या परिवार के हों, वैसे पास-पास खाना खाने बैठते थे। वहां से उन्हें उनकी मर्जी के विरुद्ध उनके माता-पिता के धर्म की खातिर उठाना पड़ता था। उस समय वे अपमानित महसूस करते थे। दोस्तों को पास-पास बैठकर खाना इतना स्वाभाविक लगता था कि उनके बीच बहुत भारी मन से आना पड़ता था। बालक किसी की जाति को जानने की परवाह थोड़े ही करते हैं।

जाति या वर्ग के भेदों को बालक स्वच्छन्द वातावरण में तोड़ डालते हैं। यूं ही जो बालक अपने घर के नौकर के बच्चे के साथ नहीं रमते, वे यहां पर अपनी बुद्धि की समानता के कारण हज्जाम के पुत्र के साथ खेलते हैं। जब पारसी की लड़की नाई की लड़की के साथ खेलती है और नागर कुल का लड़का मोची के बेटे के साथ रमता है तो समझ में आता है कि भावात्मक अन्तर से या शक्ति के भेद से वर्ग भेद सम्भव है। वर्तमान जातिगत भेद अगर इस नींव पर निर्मित नहीं हैं तो वे त्याज्य समझे जाएंगे उच्च कुल-शील-मर्यादा के आचार वाले बालक मंच पर नाटकों में मछली खाने की या मुर्गे मारने की बातें करते हैं, डरपोक बनिये का पुत्र भीम जैसी शूरवीरता दिखाता है। इस तरह की सूक्ष्म घटनाओं में बालकों का अवलोकन करने पर लगता है कि आज का समाज जातीय पुनर्गठन की मांग करता है, या फिर आज की जातीय व्यवस्था गलत सिद्ध हो रही है। सामाजिक प्रश्नों में इस प्रकार का दृष्टिपात नई शिक्षा-दृष्टि का आभारी कहा जा सकता है।

हम शारीरिक व मानसिक रोगों से पीड़ित हैं। शारीरिक रोगों का मूल घर में तथा शाला में, और मानसिक रोगों का मूल मुख्यतया अनेक प्रकार की परतन्त्रता में किस तरह विद्यमान है, यह बात हमारी समझ में आने लगी है। स्वतन्त्रता की वजह से व्यक्ति अपने शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की कितनी हानि उठाता है इसका एक प्रयोग हमें मोंटेसरी शाला में

देखने को मिल जाता है। बालकों से हम पूछते हैं: 'तुम कब झूठ बोलते हो ?' तो उत्तर मिलता है : 'घर में।' 'क्यों, किसलिए ?' तो वे कहेंगे : 'मां डांटती है, इसलिए।' और मां अपनी अनेक भांति की विचित्र मान्यताओं के कारण निर्दोष बालक को निर्दोष क्रिया के लिए लड़ती रहती है। लेकिन यहां मोंटेसरी शाला की समस्त निर्दोष क्रियाओं में स्वतन्त्रता होने के कारण बालक स्वतः ही असत्य से बच जाता है। प्रवृत्तियां मन व शरीर की खुराक है–इस खुराक के बिना मन भी बीमार हो जाता है और तन भी। शालाएं और घर बाल-प्रवृत्तियों को छीन लेते हैं और क्रियाहीनता को ही अनुशासन मानते हैं। इसके विपरीत जहां क्रियाओं का ही सतत बोलबाला रहता है ऐसी मोंटेसरी शाला में प्रवृत्तियों के आयोजन से ही अनुशासन पैदा होता है।

बंधुत्व का विकास

जेलर दो कैदियों को मिलने का मौका न देकर पाप को प्रायश्चित के आंसुओं से धो डालने की 'ना' व्यक्त कर देता है; विद्यालय में अध्यापक दो मित्रों को बातें करते देखकर 'चलो, काम में लगो, कहां भटक रहे हो ?' कहते हुए मित्रता के भाव को बढ़ाने वाली क्रिया में पत्थर फेंकता है; एक बालक को जब कोई पाठ समझ में नहीं आया और उसका मित्र उसे कुछ बता देता है तो उसे 'नकल' कहते हुए अध्यापक उनके बौद्धिक कार्य में परस्पर सहयोगी बनने की प्रवृत्ति को अपराध सिद्ध करता है; और एक मां जब अपनी बड़ी लड़की को अपनी गोदी में लिये छोटे भाई पर प्यार व्यक्त करते देखती है कि गालियां देती चीख उठती है : 'नीचे बिठा दे रांड, पटक देगी इसे कहीं !' तो ऐसी मां अपने पुत्र की उस बड़ी बहन के दिल में उमड़ते प्रेम-प्रवाह को सुखा डालती है। इसी तरह हम भी दया, प्रेम, सहानुभूति और सहयोग आदि उच्च मानवीय वृत्तियों के विकास को अवरुद्ध कर डालते हैं और फिर व्यवस्था के लिए पुलिस, जेलखाने, फौज की भर्ती आदि करने लग जाते हैं।

अगर मैं शाला की बालिका पद्मा को गिनती सिखाने से इन्कार कर दूं और अपनी इच्छा के मुताबिक उसे किसी के चोले की कसें बांधने, किसी

रोते को चुप रखने, अपनी कापी-पेंसिल किसी दूसरे बालक को दे देने और इसी में खुश रहने आदि के काम करने दे दूं तो पद्मा के पिता उसे हटा कर किसी दूसरे विद्यालय में भर्ती करा देंगे। यहां तो वह बालिका पद्मा 'एके-एक' की गिनती सीखने में लगी है, और समाज के हाथ से एक 'नाइटगिन' उड़नछू हो जाएगी। ऐसे अनेक उदाहरण देकर मैं बता सकता हूं कि सिखाने-पढ़ाने के लोभ में किस तरह हम मनुष्य की यथार्थ शक्तियों का ह्रास कर डालते हैं और कैसे उसे उल्टे समाज-द्रोही बना देते हैं।

अभी तक मनुष्य अपनी कीमत बाहरी स्तुति-निंदा के स्तर पर आंकता रहा है। समाज ने भी उसी को धर्मी कहा है जो धर्म का कवच मजबूती से पकड़े रखता हो; उसी को नीतिमान कहा है जो नीति के बाहरी बंधनों को प्रत्यक्षतया तोड़ता न हो; उसी को अहिंसक गिना है जो चींटी-मच्छर या इंसान को सामने न मारता हो; उसी को व्यवस्थित संयमी व संतुलित कहा है जो किसी प्रसंग को संभाल लेता हो—व्यवहार को निबाह लेता हो।

पर सही मनुष्य कोई अन्य हो सकता है। चाहे समाज, धर्म या ईश्वर न हो, पर वह सिर्फ अपने मंतव्यों से ही प्रतिबद्ध रहता है, उन्हीं के लिए अपने जीवन-मरण का बलिदान देता है, उनके परिपालन में ही अपनी सफलता अनुभव करता है। ऐसा मनुष्य ही सच्चा मनुष्य है।

ऐसा मनुष्य कैसे बना जा सकता है? जब तक कोई स्वतः सद्-असद् का विवेक करना नहीं सीखेगा, जब तक अपनी क्रियाशक्ति से स्वेच्छापूर्वक तटस्थ या संतुलित नहीं रहेगा, जब तक अपने आंतरिक स्वभाव के कारण जनता की तकलीफों को अपनी तकलीफें समझने की उसमें सहिष्णुता नहीं जागेगी, तब तक वह नामधारी मनुष्य ही रहेगा।

अब तक की शिक्षा ने जो कुछ हमें सिखाया है उससे कैसा मनुष्य तैयार हुआ है, यह हमें ज्ञात करना है, और फिर उसके आधार पर शिक्षा का कोई ऐसा स्वरूप निर्मित करना है कि जिससे दुनिया के दुःख-दर्द मिटाये जा सकें। एक विद्वान ज्ञानात्मक शिक्षण के स्थान पर विवेक-बुद्धि विकसित

करने की हिमायत करता है तो दूसरा इतिहास-शिक्षण के द्वारा देश-प्रेम जागृत करने की अपेक्षा विश्व-प्रेम पैदा करने की सिफारिश करता है। बर्गसां जैसे कहते हैं कि मनुष्य तो जन्म से ही पापी है, शैतान है। ऐसी मान्यता पर आधारित शिक्षा-पद्धति ने ही दुनिया को मानो आज निर्बल, श्रद्धाहीन एवं जहां-तहां पाप देखने वाले मनुष्य भेंट में प्रदान किये हैं। यदि मनुष्य को धर्म के दबाव से मुक्त कर दिया गया होता तो वह आज नीति के रोग से इतना ग्रसित न होता। बर्टेंड रसेल ने पुकार कर कहा है कि यूरोप की वर्तमान शिक्षा में निर्मल बुद्धि का अभाव है, स्वतः विचार करने की क्षमता का अभाव है। नए मनोविज्ञानवेत्ता अस्वातन्त्र्य के कारण बीमार पड़े रोगियों की चिकित्सा करके यह व्यक्त कर रहे हैं कि भावी-पीढ़ी का मानसिक स्वास्थ्य स्वतन्त्र शिक्षण में निहित है। रूसो से लेकर टालस्टाय तक के शिक्षा-सुधारकों ने स्वतन्त्रता में मानवीय दुःखों का उपराम देखा है। एच.जी. वेल्स और कवि टैगोर ने विश्व-बंधुत्व की प्रवृत्ति को मनुष्य के सार्वत्रिक एवं सार्वभौमिक आत्मविकास में सर्वोपरि तत्त्व के रूप में स्थापित किया है। दूसरी ओर महात्माजी हमारे जीवन, हमारी राजनीति, धर्म तथा समाज में सर्वत्र अहिंसा, सत्य एवं सहयोग का उपदेश कर रहे हैं इसीलिए ये द्वितीय ईसा मसीह की भांति पूजे जाते हैं। लेकिन उक्त समस्त विचारों की सफलता के लिए मोंटेसरी का सिद्धान्त एवं व्यवहार सुन्दर मार्ग है, यह बात स्पष्टतया परिलक्षित हो रही है।

जब डॉ. मोंटेसरी से पूछा गया कि आप जो दावा कर रही हैं क्या वह सही है? तो जवाब में उन्होंने कहा था कि आप स्वयं मेरी शाला में जाइए और अपने आप देख लीजिए। जब बालकों की कार्य-तल्लीनता, प्रसन्नता, सहयोग और शांति को देखा तो नेत्रों में खुशी के आंसू छलक आए। मनुष्य साथ-साथ रहें, लड़े-झगड़े नहीं, परस्पर मदद करें, एक-दूसरे में रुचि लें, एक-दूसरे के सुख-दुःख में सुखी-दुःखी हों–अगर ऐसा हो जाए तो कहना चाहिए कि धरती पर स्वर्ग आ गया। खुशी की बात है कि डॉ. मोंटेसरी बाल-दुनिया में ऐसा स्वर्ग लाई हैं। जिन लोगों ने इस स्वर्ग को देख लिया है वे मोहित होकर उसके प्रसार-विस्तार हेतु चल पड़े हैं।

माता-पिता

अगर माता-पिता को मोंटेसरी शिक्षण-पद्धति की दृष्टि प्राप्त हो जाए तो बाल-विकास के कुछ अद्‌भुत नमूने देखने को मिलें। माता-पिता रोजमर्रा के नियमित व्यवहार के कारण अपने बालकों को जीवित रहने लायक ही खिलाते-पिलाते हैं, और बस हो गया दायित्व पूरा! धनिकों के लिए बाल-बच्चे गहनों-लत्तों की तरह शोभा की चीजें हैं, जबकि बेचारे गरीब मां-बापों की गोदी में जन्मे बच्चों के लिए या तो भूखमरी है या घर का काम-काज।

बालक भावी-पीढ़ियों की शृंखला की एक अगली कड़ी है। मानव-जीवन का भविष्य इनके हाथ में है। इनका मुंह पूर्व की तरफ याने प्रगति की ओर है। बीज रूप में ये सम्पूर्ण मनुष्य हैं, सम्माननीय और पूजनीय हैं। यह कल्पना इस बाल-युग की है। बालक याने विवश, पराधीन, त्रुटि-पात्र, बेवकूफ प्राणी, यह पुरानी कल्पना है। मुझे तो इसके बजाय यह महसूस हुआ है कि बालक एक निरीह, सरल, बुद्धिमान, स्वतन्त्रता-प्रिय प्राणी है, जो भूलें करके भी भूलों से मुक्त होने को प्रयत्नशील रहता है। बालक मात्र में एक विश्वास रखने से वह कितनी द्रुत गति से प्रगति करता है, यह विश्वास मोंटेसरी की प्रयोगशाला को देखकर सबल हुआ है। अगर माता-पिता को शिक्षण की इस नई दृष्टि का ज्ञान मिल जाएगा। तो वे प्रतिक्षण इस सत्य का साक्षात्कार करने लगेंगे कि यह तो मुझे ज्ञात ही है। जो विषय उपहास-योग्य, क्षुद्र तथा बचकाना-सा प्रतीत होता था, वही इस नई दृष्टि के कारण कलामय, साहित्यपूर्ण व अद्‌भुत लगने लगेगा। नई दृष्टि वाला पिता जब देखता है कि बालक आलू के टुकड़ों को मेंढक कहता है तो अपने डेढ़ वर्ष की उम्र के बच्चे में वह अकल्प्य अवलोकन शक्ति तथा कल्पना शक्ति का बल अनुभव करेगा। नई दृष्टि वाली माता जब आकाश के तारों नीचे बैठी अपनी पुत्री को अपद्यागद्यवाणी में कुछ गाते-बोलते सुनती है तो वह उसमें किसी साहित्यकार का दर्शन करती है। जिस किसी भी माता-पिता को यह नूतन दृष्टि मिल गई वह सुस्पष्टतया देख सकेगा कि बालक अपनी

दूधमुंही बोली में कैसे साहित्य-विकास करता है, कैसे पिता की पेंसिल बिगाड़ कर दीवार पर खींची लकीरों में अपनी कलात्मक अभिवृत्ति का प्रदर्शन करता है और कैसे मां के गायन के साथ-साथ बिस्तर में लेटे-लेटे तालबद्ध अपने हाथ-पैर पछाड़ कर संगीत-वृत्ति का विकास करता है। अगर मैं यह कहूं कि ऐसी नई दृष्टि मोंटेसरी पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में व्यक्त है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। एकमात्र इस नूतन दृष्टि के कारण ही मोंटेसरी का नाम शिक्षा-शास्त्रियों की पंक्ति में बैठने के योग्य है। जिस दिन माता-पिताओं में यह नूतन दृष्टि शत-प्रतिशत उतर आएगी, उसी रोज आज के बाल-मंदिर का अवतार-कर्म पूरा हो जाएगा।

आर्थिक हल

मनुष्य में जिस प्रकार खाने-पीने-पहनने की वृत्ति नैसर्गिक होती है वैसे ही कुदरत ने उसे यह ज्ञान भी दिया है कि वह खाने की चीजें कैसे प्राप्त करे। यहीं से कृषि, बुनाई, कुम्हारी आदि के उद्योग-धन्धे पैदा हुए। इन उद्योगों पर आश्रित रह कर अगर मनुष्य सोच ले तो अपने जीवन के अंतिम क्षण तक सुख व संतोष के साथ रह सकता है। सहज स्वाभाविक जीवन का मूल्य समझ कर ही मोंटेसरी ने बाल-विकास में इन उद्योगों की शिक्षा को उपयुक्त स्थान प्रदान किया है। इतने से धंधों की कला अर्जित करके मनुष्य भले ही आज की दृष्टि से समृद्ध न समझा जाए, पर वह ऐसी स्वतन्त्रता, आरोग्य, सुख व आनंद प्राप्त करेगा कि जिन पर राजाओं को भी ईर्ष्या होने लगे। धंधों की शिक्षा से यह बात स्पष्ट होती है कि मोंटेसरी बालक अपनी उदर-पूर्ति कैसे कर सकेंगे! यह एक जवाब मात्र है।

दूसरी बात यह कि आन्तरिक इच्छा के अनुसार चलने वाले बालक अगर साधारण से साधारण समझे जाने वाले काम को भी तल्लीनता से करेंगे तो वह साधारण काम भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और वांछित धनराशि प्रदान करने वाला सिद्ध होगा। वकील या डॉक्टर ही धनवान बनें और हज्जाम न बने, ऐसा नहीं है। मनचाहे काम में जो गहरे उतरता है, अगर वह हज्जाम भी

है तो अपने व्यवसाय का विज्ञान शोध निकालेगा, उससे सम्बन्धित कलाकृतियां तैयार करेगा और अपने विषय को दर्शन के स्तर तक ले जाएगा। इस रीति से एक भंगी की और बड़े राजकीय व्यवस्थापक की आर्थिक दृष्टि से एक-समान कीमत आंकी जा सकती है। आज के शिक्षित-जनों को उदर-पूर्ति के लिए फांकें मारनी पड़ती है-इसका कारण यही है कि न उनके पास उत्पादक उद्योग हैं, न स्वावलंबन के हाथ के काम करने की शक्ति है। आर्थिक प्रश्न का हल मनुष्य की अपरिग्रह वृत्ति में तथा सृजन की स्वाधीनता में है। जो बालक बहुत कम मेहनत से अनगिनत चित्र बनाने में सक्षम है वह न तो उनका व्यापार करेगा, न उनको संग्रह करके रखने की उसे परवाह है। व्यक्ति विकास के परिणामस्वरूप व्यक्ति, समाज व राष्ट्र अपने लिए स्वाधीनता ही तो चाहेंगे। और जो व्यक्ति स्वाधीनता चाहेगा वह दूसरों को स्वाधीनता ही देगा। जब यह स्वाधीनता सार्वदेशिक बनेगी तभी एक देश द्वारा दूसरे देश पर, एक समाज द्वारा दूसरे समाज पर और एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति पर व्यापारिक आक्रमण का अंत आएगा। यह परिणाम व्यक्ति-विकास और उससे स्वाभाविक रूप से विकसित होते समष्टि जीवन के डॉ. मोंटेसरी के दर्शन में निहित है।

एक गांधी, एक टैगोर, एक बोस को देखकर हमें आश्चर्य होता है। अगर प्रत्येक मनुष्य में एक कला-विधायक बनने की अंतर्निहित शक्ति को हमारे विद्यालयों में प्रत्यक्ष रीति से मार न डाला गया होता तो आज स्थिति ही कुछ और हुई होती। जीवन-विकास में स्व-सृजन व कला की ही नहीं, व्यक्ति की स्वतः आत्मिक उन्नति भी समाहित है। कला द्वारा मनुष्य स्थूल से निकल कर ऊपर से ऊपर चढ़ता जाता है और जैसा कि काका साहेब कालेलकर ने कहा था, संयम की कला साध कर मनुष्य तत्त्व-सिद्धि तक पहुंच जाता है। कला की उत्कृष्टता न अनुकरण में है, न ही यंत्रों द्वारा उसे बढ़ाने में। जैसा रस्किन कहते हैं और जैसा कि आज जापान में हो रहा है, कलाकृति स्वयं व्यक्ति के भीतर से ही उपजनी चाहिए। तभी वह सुन्दर और सस्ती होनी चाहिए। इच्छित दिशा में जिसे सृजन करने की छूट होती है और

जिसमें कला का स्फुरण होता है, वह असंख्य कलाकृतियां बना सकता है। एक सच्चे कवि के हृदय से दो-पांच कविताएं ही नहीं निकलतीं। भीतर से तीव्र गति से आने वाले काव्य-प्रवाह को सहन कर पाना मुश्किल हो जाता है। जहां स्वतंत्र सृजन को अवसर मिला है, वहां ऐसे परिणाम सामने आए हैं।

हमारे चारों ओर यंत्रों का जो दैत्याकार समूह खड़ा हुआ है वह विज्ञान नहीं, विज्ञान के दुरुपयोग का फल है। वैज्ञानिक अलग हैं, व्यापारी अलग। विज्ञान मान्य है, व्यापार त्याज्य। विज्ञान याने वैज्ञानिक की दृष्टि। बालकों को गट्टे और मीनारें जैसी मामूली चीजों द्वारा काम करा कर डॉ. मोंटेसरी ने उनमें वैज्ञानिक दृष्टि पैदा करने की जो हिकमत की है, वह आश्चर्यजनक है। वैज्ञानिक दृष्टि याने सूक्ष्म अवलोकन-अनुभव पर आधृत ज्ञान; साम्य-विरोध पर आधृत तुलना। मोंटेसरी के उपकरणों को अमल में लाने से यह शक्ति विकसित होती है। यही उसकी प्रच्छन्न विशेषता है। बालक को चाहे विज्ञान सीखने की जरूरत पड़े या न पड़े, पर इतना वैज्ञानिक दृष्टि वाला बालक जब चाहे विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर सकता है। इस क्षमता के पैदा होने का नाम ही सच्ची शिक्षा है। पतंगों, रंग-बिरंगे पत्थरों और पंखों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण-युक्त बातें करते जिन्होंने भी बालकों को सुना है, वे बालकों की इस शक्ति को जानते हैं। जिन बालकों को वैज्ञानिक दृष्टि में आनंद है उन्हें व्यापार में आनंद आ ही नहीं सकता। आने वाले वर्षों में प्रसन्नता इस बात में अधिक होगी कि वैज्ञानिक बढ़ें, न कि व्यापारी।

7
धार्मिकता

यह सही है कि 'धर्मेणहीनाः पशुभिः समाना।' लेकिन धर्म का तत्त्व तो अंतर की गुफा में रहता है। इसके लिए तो भीतर के द्वार खोलकर झांकना पड़ता है। धर्म की वास्तविकताओं का ज्ञान, कर्म कांड का क्रियाडम्बर, पांडित्य, हठयुक्त जप-तप आदि धर्म नहीं हैं, धर्म के सुन्दर

कवच मात्र हैं। धार्मिकता का मूल्य इसी भावना के जागृत होने में है, अन्यथा वह दंभपोषी सिद्धांत बन जाती है। धार्मिकता का अर्थ कीर्तिदान नहीं, स्वार्थपूर्ण समर्पण या प्रतिफल की उम्मीद में की गई भक्ति नहीं, धार्मिकता एक वृत्ति है। सद्-असद्-विवेक-बुद्धि इस धर्म-मार्ग का आकाश-दीप है। संयमित क्रियाशक्ति में इसकी प्राण-शक्ति विद्यमान रहती है। सद्-असद्-विवेक-बुद्धि याने इन्द्रियों की शुद्धि व संस्कारिता, तथा मन की निर्मल ग्रहण शक्ति, मापन-शक्ति व निर्णय शक्ति। और क्रिया-शक्ति का संयमन याने निर्णय-प्रेरित क्रिया के प्रत्यक्ष पुनरावर्तन में से उत्पन्न होने वाली क्रिया को करने या न करने का बल। निर्णय शक्ति एवं बल उपदेश से उद्‌भूत नहीं होते, न तर्क-विषयक पुस्तकें पढ़ने से हाथ लगते। ये तो इन्हें करने की क्रिया से ही उद्‌भूत होते हैं। खूबी की बात यह है कि साधारण लकड़ी के गट्टों व अन्य उपकरणों को प्रयोग में लाने में निर्णय तथा पुनरावर्तन की क्रिया चलती ही रहती है। प्रत्येक काम में बुद्धि-प्रयोग व क्रिया-शक्ति निहित रहती ही है, पर निर्णय तक पहुंचने के लिए मन को विवश किया जाए, मापन-सामग्री उपलब्ध की जाए तथा बुद्धि द्वारा निश्चित विचार को अमल में लाने हेतु साधन-सुविधा प्रदान की जाए, तभी निग्रह-शक्ति विकसित हो सकती है। ऐसी साधन-सामग्री अगर किसी एक स्थान पर और एक ही चीज में उपलब्ध हो सकती है, तो वह है मोंटेसरी का प्रबोधक साहित्य। उस साहित्य की शास्त्रीयता का यही अर्थ है और अनिवार्यता का यही कारण है।

इस साधन को प्रयोग में लाने से बालक की अमूर्त क्षेत्र में जाने की तथा सूक्ष्म व दूरस्थ प्रदेशों को देखने एवं भावों को तीव्रता से अनुभव करने की शक्ति खिलती है। इसी का नाम है कल्पना-शक्ति। इस शक्ति की सहायता से दरिद्रता की पीड़ा समझने की, महात्माजी की देश-प्रेम की वाणी ग्रहण करने की, प्रजा के दुःख-दर्दों को अपना समझ कर अनुभव करने की क्षमता प्राप्त होती है। इन तीनों शक्तियों वाला या इनमें से एक-एक शक्ति-युक्त मनुष्य ही समर्थ कवि, महान शोधक, प्रखर राजनीतिज्ञ और अद्वितीय योद्धा बनता है। पर धार्मिकता अभी एक और अधिक तत्त्व की

अपेक्षा रखती है, और वह है प्रेम। जीवन की उत्कृष्टता व परम सफलता इस तत्त्व की प्राप्ति में निहित है। इस तत्त्व ने समस्त सचराचर जगत को जोड़ रखा है। यह वस्तु सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों में जंतुओं आदि से लेकर देवताओं तक की दुनिया में स्वयं विद्यमान है। वैज्ञानिकगण इसे स्थूल वस्तु के प्रति आकर्षण कहते हैं, पशु-जगत में स्वाभाविक प्रेरणा कहते है और मनुष्यों में इसे प्रेम के नाम से पहचाना जाता है। यह तत्त्व बालक को मां के दूध के साथ उपलब्ध होता है और वहां से वह आगे विकसित होता है। यह तत्त्व मनुष्य की संजीवनी है। इसके विकास में मनुष्य-जीवन का उद्धार है। बुद्ध, मुहम्मद, क्राइस्ट और हमारे गांधीजी इसी एक तत्त्व के कारण पैगंबरों की तरह विख्यात हैं।

जब मनुष्य में प्रेम घटता है तभी जीवन को निचोड़ डालने जैसे कलह-क्लेश खड़े होते हैं। वर्तमान जीवन-प्रणाली, लगता है जानबूझ कर मनुष्य को इस तत्त्व से वंचित रख रही है। व्यापार से यह तत्त्व बहिष्कृत हो चुका है। दुनिया में यह तत्त्व प्रतिदिन घिस-मिट कर स्वार्थ के समतुल्य बनता जा रहा है। युद्ध के मैदान में इस तत्त्व का स्वप्न तक नहीं आता। विद्यालय में, बाजार में, कारखाने में अगर कोई इस तत्त्व के आधार पर जीने की बात कहे तो लोग बात को हंसी में उड़ा देते हैं। मित्र-मित्र के बीच, सेठ-नौकर के बीच, पति-पत्नी के बीच का सम्बन्ध भी इस तत्त्व से रहित देखने में आता है। इन्हीं कारणों से आज का मानव धार्मिकता रहित है। महामारी के दिनों में जब कोई अशिक्षित व उजड्ड समझा जाने वाला देहाती विद्वान, ज्ञानी व प्रतिष्ठित समझे जाने वाले पुत्र-पुत्रियों द्वारा छुतहा रोग लग जाने के भय से परित्यक्ता वृद्धा की आगे आकर सेवा-शुश्रूषा करने लगता है, तो वहां धार्मिकता के दर्शन होते हैं। एक बड़ा राजा गरीबों की झोंपड़ी-झोंपड़ी तक जाकर अगर दीन-दुखियों की सेवा करता है, तो वह धार्मिक कहा जाएगा। कोई मूर्ख बाबा रास्ते जाते प्यासे राहजनों को जब अपनी आधी रोटी में से चौथाई उन्हें खिलाता है और अपने लौटे भर पानी में से आधा पानी पीने को देता है तो उसके हृदय में सच्ची धार्मिकता है, यही समझना चाहिए, कलकत्ते में शरणार्थी शिविर में जब एक पागल, दुष्ट

अर्धनग्न महिला की सेवा-चाकरी करते तथा मां से बिछड़े एक बालक की मां की तरह संभाल लेते एक सेवाभावी महिला को मैंने देखा, तो मुझे एक सच्चे क्रिस्तान का परिचय जानने को मिला।

निर्मल बुद्धि, क्रिया-शक्ति, कल्पना-शक्ति तथा प्रेम—इन चारों के सम्यक्-विकास में मनुष्य की धार्मिक वृत्ति का उदय है। इस अंतिम तत्त्व के विकास हेतु मोंटेसरी ने त्रिविध योजना प्रदान की है। प्रबोधक साहित्य के इस्तेमाल से सत्य, सजगता व एकता, बालक के आंतरिक स्नेह-सम्बन्ध से सहिष्णुता, मैत्री व समानता, तथा शिक्षक-शिक्षार्थी के सम्बन्धों से वत्सलता एवं बाल स्नेह का विकास—इन सबों के परिणामस्वरूप प्रेम का तत्त्व प्रकट होता है। इसके लिए मोंटेसरी पद्धति की बलिहारी है। नई शिक्षा दृष्टि के लिए सहजतया करणीय कार्य है।

मोक्ष या आत्म-साक्षात्कार के सम्बन्ध में तो उसी व्यक्ति को बोलने का अधिकार है, जो स्वयं मुक्त हो या आत्मज्ञानी हो। लेकिन फिर भी हम लोगों ने अपनी निम्न भावनाओं से मुक्ति हासिल की है। पशु स्वयं को जितना पहचान पाए हैं, उनसे कहीं अधिक हमने अपने को पहचाना है, अपनी क्षमता को जाना है। इस तरह स्थूल से सूक्ष्म में, अंधकार से प्रकाश में तथा पशुता से मानव बनने की दिशा में जाने वाला, इंद्रियों के स्थूल भोग से सूक्ष्म-संस्कारी क्रिया की तरफ जाने वाला, मन के स्थूल वैभवों से सूक्ष्म तत्त्व-चिंतन की तरफ जाने वाला तथा समस्त मानवीय क्षुद्रताओं से मुक्त होते-होते ऊंचाई की तरफ जाने वाला मनुष्य ही सच्चे अर्थ में मुमुक्षु है। ऐसी प्रवृत्ति का मार्ग ही मुक्तिमार्ग है।

मेरे मत से मोंटेसरी-पद्धति के उपकरणों द्वारा इन्द्रियां व मन याने सम्पूर्ण मनुष्य दिनों-दिन मुक्त बनता जाता है, यही नहीं वहीं से उसे मुक्त होने की कला व मार्ग सुलभ होते हैं। आत्म-साक्षात्कार का अंतिम अनुभव तो वही जानता है, जो उसका अधिकारी हो, लेकिन मनुष्य जब से अपनी इंद्रियों व मन के विकारों, अविकारों, वेगावेग को पहचानने लगता है; तभी से वह आत्मदर्शन की दिशा में बढ़ने लगता है। इस बात को वह व्यक्ति

अच्छी तरह से समझता है जिसने अपने बारे में, स्वयं उसके भीतर क्या कुछ चल रहा है, इस सम्बन्ध में अकेले बैठे बालक को एकाग्रता में डूबे देखा है। बालक एकाएक जैसे जागता है और बोल उठता है : 'ओहो, यह यहां कहां से आया ?' 'मेरे तो पांच उंगलियां हैं।' 'मैं उनसे बड़ा हूं।', 'कल मुझे यह काम नहीं आता था, आज आने लगा।' 'वह आकाश नीला है।' तो इन वाक्यों के द्वारा बालक अपना आत्म-साक्षात्कार भी करता जाता है–अपनी पूरी पहचान करता जाता है।

किसी को लगेगा कि जिस प्रकार महाकवि बाण की कादंबरी में सम्पूर्ण साहित्य समाहित है वैसे ही मोंटेसरी पद्धति में सम्पूर्ण साहित्य समाहित हैं। किसी को लगेगा कि जिस प्रकार भगवान बुद्ध कहते थे कि बुद्ध ही एकमात्र वैद्य हैं, उन्हीं की शरण में जाओ, उनके संघ की शरण में जाओ, उनके धर्म की शरण में ही जाओ, उसी प्रकार मोंटेसरी पद्धति भी अपने चरणों में तीनों प्रकार से शरण मांगती हो–पर ऐसा कुछ है नहीं। बड़ी ही सरल-सहज पद्धति है यह। इसकी अपेक्षाएं विनम्र हैं बालक को स्वतंत्रता दो और स्वयं स्फुरित प्रवृत्तियां करने दो, प्रेम से उसका लालन-पालन करो और यह मान कर चलो कि ईश्वर के अलावा यह किसी और का अधिकार नहीं कि वह दूसरों के व्यक्तित्व का निर्माण कर सकता है। पर इस पद्धति में एक विशेष बात है कि मानव-जीवन के उद्धार के सभी तत्त्व इसमें आ गए हैं। इन समस्त सिद्धान्तों को सिद्ध करने में भले ही युगों के युग लग जाएं, पर उसके बिना छुटकारा नहीं है।

मोंटेसरी पद्धति के विचारों का यह क्षीण प्रवाह अभी भागीरथी के जैसा है। अभी-अभी यह हिमालय से निकली है। काल के प्रवाह के साथ इसकी धारा आगे चलकर विपुल, विस्तृत व मनुज-पावनी बनेगी, ऐसा विश्वास है। हम क्षुद्र हैं, हमारे प्रयत्न बौने हैं, पर हमारी आशाएं महान हैं। आइए, हम मानव-उद्धार के यज्ञ की पहली आहुति दें और जीवन को सार्थक करें। जीवन-उद्धार के कार्य में जीवनोद्धार ही है। □

बाल जगत की उषा

मेरे जीवन का यह एक बड़ा ही स्वर्णिम दिन है। जब मैंने अपने पुत्र के लिए मोंटेसरी के गद्दे, लम्बी सीढ़ी और चौड़ी सीढ़ी आदि उपकरण बनवाए, और हम दोनों उस प्रबोधक साहित्य में रमने लगे, तब मुझे पता तक नहीं था कि डॉ. मोंटेसरी का पुण्य-बल मुझे आज के दिन कभी आप लोगों के समक्ष इस प्रकार ला खड़ा करेगा।

यदि मैंने अपने वकालात के पट्टे को बहाल रखा होता तो कदाचित आज किसी न्यायाधीश की कचहरी में मैं अपने एकाध दोषी या निर्दोष मुवक्किल का केस लड़ रहा होता; परन्तु डॉ. मोंटेसरी की प्रभावपूर्ण रचनाओं से मेरे जीवन में परिवर्तन आया और मैं सौभाग्यशाली हूं कि आज आपके समक्ष निर्दोष बालकों की वकालत करने के लिए खड़ा हूं।

आज मुझे जो यह सम्मान दिया जा रहा है, इसके लिए मैं पहला उपकार किसका मानूं? अगर मेरे मित्र गोपाल दास दरबार द्वारा प्रदत्त मोंटेसरी-साहित्य से मेरे भीतर चेतना का संचार न हुआ होता तो? अगर मैंने अपने चारों ओर के बालकों को माता-पिताओं द्वारा तिरस्कृत न देखा होता तो? बचपन में मैं जिन पाठशालाओं में पढ़ता था उन जगहों और शिक्षकों की मलिनता को मैंने स्मरण न रखा होता तो? और नित-हमेश मेरे साथ बसने वाले मेरे बच्चों की मूक-वाणी से मुझे ये स्वर न सुनाई दिये होते कि 'बापू! हम भी इंसान हैं, हमें देखो, हमारी बातें सुनो, हमें इंसाफ दो, हमें इज्ज़त दो, हमें माता-पिता के अज्ञान और मिथ्या-प्रेम से बचाओ, हमारी आजादी के लिए लड़ाई लड़ो।' तो? और श्री दक्षिणामूर्ति नामक संस्था ने (भावनगर में) बालमन्दिर शुरू करके मुझे बाल-हृदय के समीप आने और उसमें मोंटेसरी के सिद्धान्तों का साक्षात्कार करने का अवसर प्रदान न किया होता, तो? और अगर सम्पूर्ण गुजरात के बालकों की आन्तरिक इच्छा ने मेरे मन में उदित होकर मुझे मोंटेसरी का झंडा फहराने की भगवान द्वारा प्रेरणा न दी होती, तो? तो मैं किसका उपकार मानता? और इस उपकार

को स्वीकार करने का अवसर जिसने मुझे दिया, उस शारदा-मन्दिर का भी मैं क्यों कर उपकार मानता?

आज मैं आपके समक्ष वर्तमान बाल-शिक्षण की पैगंबर डॉ. मोंटेसरी का जीवन-परिचय देने, या उस कर्मवीर योगिनी के कर्मयोग का वर्णन करने, या उनसे पूर्व के महान आचार्यों की कथा सुनाने, या देश-विदेश में उनकी जो शिक्षण-पताका फहराने लगी है, उसका विस्तृत मूल्यांकन-विश्लेषण करने को खड़ा नहीं हुआ हूँ। ऐसे ही मोंटेसरी पद्धति जीवन में शिक्षा के सर्वव्यापक प्रदेश में किस प्रकार अनेक समस्याओं का हल कर रही है, इसकी मीमांसा करने; या कि यह बताने कि डॉ. मोंटेसरी ने शिक्षा, विज्ञान, मनोविज्ञान में कैसा योगदान दिया है; या कि मोंटेसरी की नूतन दृष्टि हमारे समाज, धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष पर कैसा प्रकाश डाल रही है; या कि मोंटेसरी की दृष्टि से जीवन-विकास का दर्शन क्या है, ये सब बातें बताने मैं आपके समक्ष खड़ा नहीं हुआ।

पर मैं ठहरा एक अध्यापक, अतः अध्यापक के नाते जिस तरह अध्यापक विद्यार्थियों से पूछता है, उसी तरह आप से सवाल पूछने खड़ा हुआ हूं। मेरा पहला सवाल यह है कि क्या आपको अपनी बाल्यावस्था याद है? वर्षों पीछे अतीत में दृष्टिपात करके जरा उस अवस्था को याद तो कीजिए, क्या वह आपको याद आती है? हम छोटे थे और घर में हम छोकरे समझे जाते थे। कहीं भी हमारा स्थान नहीं था। घर बड़ों का था, और हम लोग बड़ों में समाए हुए थे। बड़ों की बड़ी-बड़ी और उनकी पसंदीदा जीवन-सामग्री से हमें जीना पड़ता था। बड़े लोग जब चलते थे तो हमें उनके साथ दौड़ना पड़ता था। बड़ों के धर्म और बड़ों के आचार-व्यवहार के अनुसार हमें अपनी दृष्टि, अपना धर्म और अपना आचार-व्यवहार तय करना पड़ता था। बड़ों के बोलते समय हमें खामोश होकर बैठना पड़ता था, जब बड़े बुजुर्ग शांतिपूर्वक खाना खा रहे होते थे तब हमें उनके साथ-साथ खाकर उठने के लिए ग्रास झटाझट गले के नीचे उतारने पड़ते थे। बड़ों के मेहमानों के पास हम 'हां जी', 'नहीं जी' कहते हुए अदब से खड़े रहते थे और उनकी पसंद की कविता सुनाने के लिए हमें सीखनी पड़ती थी।

क्या हम लोगों ने अपनी बाल्यावस्था में कदम-कदम पर ऐसा महसूस नहीं किया कि हम बच्चे हैं अतः अपने माता-पिता के घर के खिलौने हैं? माता-पिता स्वयं खुश होने के लिए अपनी पसंद के कपड़े-लत्ते हमें पहनाते हैं, अपनी मौज-मस्ती के लिए जब मन भाए तब हमें खिलाते-पिलाते, खेलाते-कुदाते हैं? मेहमानों के आने पर हमें इंगित करके, हमारा प्रदर्शन करके माता-पिता अपना मान बढ़ाते हैं? समाज में घुमाने-फिराने ले जाते समय हमें बस इसी कारण संवारते हैं कि माता-पिता को शरमाना न पड़े। घर में अच्छी-अच्छी चीजें बस इसीलिए जुटाना कि एक धनवान माता-पिता से दूसरा धनवान माता-पिता हमारे लिए याने बालकों के लिए अधिक खिलौने रखता है, इस बात का अभिमान जताना।

अगर अपना बचपन याद करें तो कइयों को याद आएगा कि आटा छानते समय हम मां से पूड़ी बेलने को आटा मांगते और बजाय पूड़ी के हम उससे चूहा या मछली बनाते और बेलन की मार खाते! हमें याद आएगा कि पिता ने जब से हमें नाटक दिखाया, हमें भी नाटक खेलने का शौक चर्राया और राजा बनने के लिए पिता की स्याही से मूछें बनाई नहीं, कि मार खाई। हमें याद आएगा कि पेंसिल कागज कुछ न मिला और 'यह' खराब हो जाएगी, गंदी हो जाएगी की सूचना दिये जाने पर भी हमने रसोई की दीवार पर कोयले से चित्र बनाये और इसके लिए छोटी चाची ने हमारा हाथ पकड़ कर अच्छी मरम्मत की होगी।

ये बातें किसे याद नहीं कि घर के आंगन में बैठे-बैठे गड्ढ़े खोद रहे थे हम, तो वहां से, दालान में पड़े जूतों को करीने से सजा रहे थे हम, तो वहां से, पालने पर या झूले की लोहे की छड़ों पर लटकते थे हम, तो वहां से, जीने वाली कटहरी से फिसलते थे हम, तो वहां से, लीपने के लिए लाए गए गोबर से मां की तरह उपले बनाते थे हम, तो वहां से, यूं न जाने हमें कहां-कहां से नहीं खदेड़ा गया और न कहा गया कि 'जाओ पाठ याद करो,' 'नीचे बैठ जाओ!'

हमें सब जने ऊधमी कहते। हमें मौज-मस्ती आती और गद्दे पर गुलाटी मारी नहीं कि ऊधम, अपने भाई-बंधुओं के साथ हम जीने से चढ़ने-

उतरने का खेल खेलने लगे कि ऊधम, हम आंगन में दौड़ते-दौड़ते पेड़ पर चढ़ने भागे कि ऊधम, कुछ सुना और गाने लगे कि पापा के लिए ऊधम हो गया, बारी पर चढ़कर हींडे खाने लगे कि ऊधम ! हम कितने सारे ऊधम करते थे!

हम मां को बर्तन उठाने में सहयोग देने लगते कि वह तुनक देती : 'क्यों बीच में आता है?' हम पिताजी की पुस्तकों को सजा कर रखना सीखते, तो वे कह उठते : 'यह क्या बिखेरा किया है?' घर की बाड़ी में जाकर हम जामुन और आम बो देते तो माली फूट पड़ता : 'छोकरो! क्यों बिगाड़े हैं ये क्यारे?' या कभी मां कह उठती : 'ये कपड़े गारे में क्यों बिगाड़ रहा है?' मौसी कहीं बातें करती हो और हमने उन्हें कोई बात याद दिला दी तो कह उठती : 'यह आई मेरी दादा गुरु!' पड़ोसिन को कोई चीज न देने के लिए मां झूठ बोल देती और हम सच बता देते तो मां कह पड़ती : 'बड़ा आया याद रखने वाला?' हम छुरी को घिसते-घिसते झटपट खाना खाने न चल पड़ते तो सब कह उठते : 'देखो, सुनता तक नहीं।' पसंद की कोई चीज हम छोड़ते नहीं और वह हम से जबरन छुड़ाई जाती तो हम रो पड़ते, इस पर कहा जाता : 'कैसा जिद्दी है?'

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या ये बातें सही नहीं? अचानक चाकू से लग जाती तो ऊपर से पिता लात मारते : 'ध्यान नहीं रखता? चाकू उठाया ही क्यों था?' झूलते-झूलते गिर पड़ते तो मां आकर हमें डांट मारती : 'यह तो इसी माजने का है! हां, ठीक ही हुआ जो लग गई।' रात को बारह बजे शौच जाने की शंका हुई और मां ने चिढ़ते हुए कहा : 'कल से कुछ भी खाना न दूंगी।'

घर में हमारी बचकानी बातें सुनने की किसी को फुर्सत नहीं थी। हमारे खेलने से घर में गड़बड़ी होती थी। हम लोग कोई नई चीज बनाने लगते तो उससे घर में कचरा बिखर जाता था। मतलब यह कि हमारे लिए घर में थोड़ी ही जगह है, ऐसा लगा और परिणामस्वरूप हम गली में उतर आए।

फिर गली में आकर हमने क्या-क्या सीखा वह भी क्या आपको याद दिलाने की जरूरत है ? रोगाणुओं से भरी गलियों की धूल फांकते हुए हम में से कितने ही अपना जीवन खो बैठे; उनसे तो अब आगे के प्रश्न पूछने से रहे ! पर हम जो जीवित रहे हैं, वे एक-दूसरे से प्रश्न पूछते हैं कि गली के प्रभाव से भले ही हम शरीर से न मरे हों, पर मन से कितने सड़ चुके हैं ? इसका उत्तर हम मन ही मन और इशारों ही इशारों में देंगे।

घर में जगह कम पड़ी इस कारण हम गली में निकल आए। पर गली के विशाल प्रांगण में घर की स्वच्छता गई और गंदगी आ मिली; गली में घर वाली टोकाटोकी थी नहीं, बल्कि वहां गुंडे लड़कों का दबदबा था, घर में खेलने की जगह नहीं थी, तो गली में खेल की अव्यवस्था थी।

घर के अनुशासन से छूटे, पर गली की उच्छृंखलता में आ गिरे। घर के अति-लौकिक व सभ्यतापूर्ण वातावरण की घुटन से बचे, तो गली के नितांत असभ्य वातावरण का भोग बन गए। गली में बातें करने की और सुनने की आजादी मिली, पर बातों की निर्मलता व मर्यादा ही नहीं रही। घर से नाटक खेलने बाहर भागे, पर गली में आकर माता-पिता और मास्टरजी के ही नाटक खेले। घर में माता-पिता की चौकीदारी से तो भाग आए, लेकिन गली में क्या करना चाहिए इसकी रंच मात्र भी चिंता रखने वाला कोई नहीं मिला।

संक्षेप में, घर से गली में जाना पड़ा याने कढ़ाई से निकल कर चूल्हे में जा गिरे।

गली के उस पार अलिया-गलियों से होते हुए शाला का भवन था। अब मैं आपसे पहले सच्चे मन से व गंभीरता से यह पूछना चाहता हूं कि हाथ में डंडा लेकर फिरने वाले और हमें मुहारनी रटाने वाले धूल भरी शालाओं के वे शिक्षक याद आपको आये या नहीं ? इसके साथ ही साथ आपकी स्मृति में वह गंदी शाला और उसमें किसी गाड़ी में खचाखच भरे बकरों और कुत्तों की मानिंद बैठे छोकरे, और उनके बीच हाथ में कलम-पट्टी थामे, मैले-कुचैले कपड़े पहने, थूक से पट्टी को साफ करते, और मास्टरजी की

तरह बार-बार तिरछी नजरों से यह देखते कि वे अब किसकी पिटाई करने वाले हैं, स्वयं आपको याद आएगा।

मुझको खुद को वह याद आती है, और इस वक्त बड़ी ही शर्म के साथ उस शाला को याद करना पड़ रहा है। शाला के मधुर संस्मरणों के साथ रले-मिले कड़वे स्रोतों को विस्मृत करने के लिए मधुर संस्मरणों को अधिक याद करना पड़ता है। लेकिन कक्षा में तम्बाकू खाने वाला शिक्षक—हमें गालियां देता और हमारे माता-पिताओं की मजाक उड़ाता शिक्षक मुझसे भुलाये नहीं भूलता। रौब जमाने के लिए ही वह लड़कों को पीटता। न पढ़ाना होता तब 'नक्शा देखो', 'गिनती लिख कर लाओ', ऐसा काम सौंपने वाला शिक्षक कैसे भूला जा सकता है ? तड़ातड़ तमाचे खाते लड़कों को मैंने अपनी आंखों से देखा है, और कभी-कभार मेरा गाल भी चमचमाया है। मैं विश्वासपूर्वक बता रहा हूं कि शिक्षक को हमसे कोई लेना-देना नहीं था। हम गृह कार्य करके ले आते, भौंहे चढ़ाए शिक्षक उसे ले लेते और घंटी बजते ही शाला से हम ऐसे छूटते जैसे पिंजरे से कुत्ते भाग छूटते हैं। जब कभी मास्टर बीमार होते तो हम बहुत खुश होते : 'हा ! हा ! आज पढ़ना नहीं है। कोई मर जाता और शाला में छुट्टी होती तो हमारे मजे ही मजे थे। मैं आपके सामने कोई अपना जीवन-चरित्र सुनाने को खड़ा नहीं हुआ हूं, अपितु शिक्षण का एक युग चित्रित करने खड़ा हुआ हूं। यह चित्र बहुत लंबा है, बहुपक्षी है, फिर भी कूंची के मोटे-मोटे हाथ मार कर उसे व्यक्त करना चाहूंगा।

हमें सभी शिक्षकों की नकल उतारना आता था। पढ़ाने में सबसे अधिक होशियार शिक्षक हमें सबसे अधिक नापसंद था। जो अध्यापक पढ़ने से छुट्टी देता और घर से काम करने लाने को सौंपता था वह बहुत पसंद आता था। परीक्षा में नकल कराने वाला अध्यापक हमें बहुत पसंद आता था। उन दिनों हमें यह ज्ञान नहीं था कि नकल करा कर शिक्षक परीक्षक के साथ छल करता है।

आप में से अनेक को क्या परीक्षक याद नहीं कि हमारा परीक्षक कैसा वयोवृद्ध, अविनोदी अफसर होता था। जो आंखें दिखाता था। उसकी

मान्यता थी कि परीक्षा लेना एक धंधा चलाना है। परीक्षा लेते वक्त क्या उसने कभी एक बार भी मनोविनोद किया? नदी और पहाड़ों के बारे में पूछने के सिवा क्या उसने हमारे जीवन से सम्बन्धित एक भी बात कभी पूछी थी? परीक्षा की तैयारी करने में हम कितने हैरान-परेशान हुए होंगे, उस सम्बन्ध में क्या उसने कभी एक भी प्रश्न पूछा था? और परीक्षा के वक्त हममें से कइयों को क्या बुखार नहीं आ जाता था?

और हम पढ़ते भी थे तो परीक्षा के लिए। परीक्षा बीती नहीं कि हम चैन की सांस छोड़ते हुए आजादी अनुभव करते थे। फेल होने वाले रोते थे और पास होने वाले उछलते-कूदते थे। जब परीक्षाएं आती थी तब हमारे खेल कम हो जाते थे। घर में पढ़ाई ही पढ़ाई का माहौल रहता। सपने भी परीक्षा के या पास-फेल के आते। परीक्षा बहुत बड़ा हौवा था। सच मानिये। मैं तो आज भी परीक्षा में बैठता हूं तो मुझसे लिखा तक नहीं जाता। और 'हाय राम, क्या होगा' के सपने आते हैं।

हमारी शिक्षा याने जानकारी, जानकारी, जानकारी! ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान! इतिहास की वर्ष वार घटनाएं । याद, साबरमती और ढाढर नदी के ऊपर वाले शहरों के नाम याद, महाजनी हिसाब और पाठ तो फर्राटे से याद, कविता और उनके अर्थ याद। भौतिक शास्त्र और शरीर शास्त्र जो भी विषय पढ़ना बैठे उनके सारे विवरण कंठस्थ। इसका नाम जाना, उसका नाम पढ़ा। लेकिन इनमें से विकास कहां किस चरण में था, यह पता लगाना मुश्किल है। पर पढ़ाई का यही स्तर था और हम उससे भली-भांति परिचित हैं।

हमारी शाला शिक्षण की प्रयोग भूमि नहीं थी। वह क्रीड़ागण नहीं थी। नाट्यशाला नहीं थी, संग्रहालय भी नहीं थी। न कला-मंदिर ही थी। वह बगीचा भी नहीं थी। टूटी-फूटी चार दीवारें, मैला-कुचैला उखड़े तले वाला आंगन, दागों वाली बेंचे, टूटी हुई पट्टियों और फटी हुई किताबों वाले हम तथा डंडा लेकर घूमते हमारे अध्यापक! यह थी हमारी शाला!

वहां हम बहुत जुर्म करते थे। सिर्फ बातें करते, शाला-कार्य नहीं करते, कबूतर उड़ाते, मास्टरजी कोई नई चीज लाते तो उसे टेबिल से उड़ा

लेते, एक-दूसरे की खासियतों की नकलें करते, किसी विद्यार्थी को उत्तर न आने की दशा में मास्टर की मार से बचाने कि लिए उसे उत्तर लिखकर दे देते, खेल याद आते और ध्यान नहीं रहता तो इधर-उधर देखते, शिक्षक श्यामपट्ट पर हमें हिसाब करना सिखाते और उसमें मजा नहीं आता तो हम झोंके खाते, घर से करके लाने को दिया जाता और किया न होता तो डर के मारे बहाना बनाते कि सिर में दर्द था, मास्टरजी का डंडा तोड़ डालते या छुपा देते। ये सब हमारे अपराध थे और हम थे अपराधी। फिर शिक्षा शास्त्र के द्वारा हमें सजाएं दी जाती। खड़े रहो, अंगूठा पकड़ो, ऊठ-बैठ करो, तमाचे खाओ आदि-आदि। अगर कोई सजा देने के विविध तरीकों की सूची तैयार करे तो शालाओं का अच्छा-खासा पीनल कोड तैयार हो जाए।

शाला के शिक्षक की दशा कैसी थी। उसकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति की दयनीयता की बात और उसकी ज्ञान-समृद्धिगत दरिद्रता की कथा के बारे में नहीं कहूंगा। आज के संदर्भ में बालकों के प्रति व्याप्त तिरस्कार के बारे में अवश्य कहना चाहता हूं। अगर यह समस्या समझ में आ जाए तो चाहे बीता हुआ कल कैसा ही क्यों न रहा हो, आने वाले कल का शिक्षक अवश्य बदल जाएगा। अतः शिक्षक को और उसकी निंदा को यहीं छोड़ें और आगे बढ़े।

इन तमाम पुरानी बातों को पुराने लोग अपने मन में तो अवश्य स्वीकार करेंगे, लेकिन हममें से कई जने कहेंगे : 'गिजुभाई ने रोजाना की तरह कोई किस्सा छेड़ दिया है।' मेरे सामने बैठे सेठ अमृतलाल या श्रीमती सरला देवी जैसे आज के सुशिक्षित माता-पिता, या आप में अनेक महानुभावों ने, जिन्हें विचारशील माता-पिता की छत्रछाया में बाल्यकाल बिताने का सौभाग्य मिला होगा, वे हाथ उठाकर 'नहीं, नहीं', कहेंगे। इसी तरह वर्तमान मोंटेसरी शालाओं के बालक, जो इधर-उधर कहीं बैठे हैं, खड़े हुए बिना ही कह उठेंगे : 'ऐ गिजुभाई, ये क्या गप्पें हांक रहे हैं? हमने तो ऐसा कुछ देखा नहीं।' और मेरे साथी कई शिक्षक-परीक्षक जरा दुखी होकर कहने लगेंगे : 'श्रीमान् कितने परिश्रम से हम अपने शिक्षण में सुधार कर रहे

हैं और आप हैं कि उसे देखे-समझे बिना ही क्या-क्या प्रलाप किये जा रहे हो?'

मैं इन सबों के मधुर उलाहनों को सुन लूंगा, पर कहूंगा जरूर। अलबत्ता, गिने-चुने घर और थोड़े बहुत शिक्षक नूतन शिक्षण को—नए प्रकाश को ग्रहण करने लगे हैं, फिर भी स्वयं आप चारों ओर नजरें उठा कर जरा बताइए तो सही कि हमारे आज के घरों में भी बालकों की दशा कैसी है? क्या ऐसी बात नहीं है कि दिनोंदिन हम अधिक से अधिक कार्य-व्यस्त होते जा रहे हैं और परिणामस्वरूप धन-सम्पन्न होने के कारण अपने बालकों को नौकरों या आया के हाथ या एकाध ट्यूटर के भरोसे छोड़ देते हैं? आज मोटरों और मिल के भौंपुओं की आवाज में लाखों असंभावित बालकों का रुदन हमें सुनाई तक नहीं देता। गंदगी में सड़ने वाले बालकों की संख्या पर गौर करें तो वह साफ-स्वस्थ बालकों से कम होगी या ज्यादा? क्या बच्चे खिलौनों से संतुष्ट हो जाते हैं? क्या बालकों के लिए घर में एकाध अलग से संदूक का इंतजाम किया हुआ है? और क्या शालाओं की स्थिति में बदलाव आया है? ट्रेनिंग कॉलेजों से अच्छी से अच्छी शिक्षण-विधियां सीख कर आए शिक्षक क्या अपनी शालाओं में उनके अनुसार शिक्षण-कार्य करते हैं? यूं कहिए ना, कि वे थोड़ा बहुत किंडर गार्टन और मोंटेसरी पद्धति के बारे में जानते हैं। क्या उनकी शालाओं में फ्रॉबेल के उत्साहवर्द्धक खेल हैं? क्या उनमें मोंटेसरी का बाल-सम्मान है? कहीं शिक्षकों का उत्साह पाठ्यक्रम, परीक्षा-पद्धति तथा जीवन की जटिलताओं के कारण कुचल तो नहीं गया? हाय, सजा मिट रही है तो इनाम बढ़ने लगे हैं। रटाई घट रही है तो विविध युक्तियों-प्रयुक्तिओं से आनंद उत्पन्न करने वाले प्रयत्नों द्वारा दिया जाने वाला शिक्षण बढ़ने लगा है। लेकिन इनके परिणामस्वरूप वास्तविक ज्ञान नहीं बढ़ रहा। संगीत, चित्रकला आदि बढ़ रहे हैं तो एक ओर पाठ्यक्रम के विषय बढ़ रहे हैं और दूसरी ओर कक्षा-शिक्षण में इन विषयों की पढ़ाई लज्जास्पद देखने में आती है। ये बातें आप लोग कौनसे नहीं जानते?

संक्षेप में कहा जा सकता है कि परिस्थिति बदली नहीं है, सिर्फ पासा बदला है, पर बातें वही की वही हैं।

लेकिन अब संसार के रंग-पटल पर एक नई उषा का आगमन हुआ है। और इस अरुणिम विहान की दिशा में जाने को मानो हम सब जाने-अनजाने तैयार बैठे हैं। जिन घरों में यह नया प्रकाश पहुंच गया है, क्या मैं आपको उनके बाबत कुछ बताऊं? सुनिये। वहां के बालक स्वस्थ हंसी हंस रहे हैं। घर के बड़े सदस्यों की तरह वे एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में अपनी गतिविधियां कर रहे हैं। ये रहे उसके पिता। समादरपूर्वक पूछते हैं : 'क्यों भई, खाना खाने को तैयार हो क्या?' और मां पिता को जब तक खाना परोसे तब तक बालक अपना चित्र-कार्य पूरा करके दौड़ा हुआ माता-पिता को लाकर दिखाता है, और खाना-खाने बैठ जाता है। बालक निर्भीकता से पिता को प्रश्न पूछता है और पिता विनोद एवं शांति से उसे जवाब देते हैं। यह रहा उस माता-पिता के घर में बालक का अपना छोटा-सा घर! सचमुच वह बालक का ही घर है। बालक वहां पिता की तरह स्वच्छंदता से रहता है। माता की तरह अपना कामकाज करता है। पिता के दोस्तों की तरह अपने दोस्तों को वहां बुलाता है। बालक के नन्हें-से घर में उसके जीवन-विकास की ये रही कितनी सारी चीजें। यह उसका छोटा-सा पुस्तकालय। नीचे छोटी-सी दुछत्ती, छोटी सी मटकी, हथौड़ी, कैंची, कुदाली, छोटा-सा आसन और ये तमाम जीवनोपयोगी चीजें। देखिए, वहां उधर चला गया वह? कितनी तल्लीनता से अपना घर साफ कर रहा है? जैसा भी आता है वैसा ही करता है। मां उसके पास आकर कहती है, 'कल से आज अच्छा काम किया है। आज तो यह नई झाड़ू तुझको अच्छी लगी, ना?' देखिए, शाम को घूमने का वक्त हुआ है। बालक अपने मकान में तैयार हो रहा है। शांतिपूर्वक हाथ-मुंह धोकर वह कपड़े पहन रहा है। माता-पिता ने झांक कर देखा और बालक बोल उठा, 'लो तैयार हो रहा हूं।' मां उसकी प्रतीक्षा में खड़ी है। देखिए, वह एक बच्चा अपने आप कपड़ों के बटन बंद कर रहा है। आया उसकी सहायता को दौड़ती है। बच्चा मौन दृढ़ता से कह देता है, 'मुझे आता है। मैं तेरा गुलाम नहीं।' आया बाहर आकर मां से शिकायत करती है, 'मुन्ने को बटन लगाने तक नहीं आते और मुझ पर आंखें निकालता है। न जाने कब वह कपड़े पहन कर तैयार होगा!' इस पर मां

कहती है, 'भले ही उसे वह आने में देर हो जाए। अपने आप पहनता है तो पहनने दे। इसे अपंग बनाने को थोड़े ही रखा है तुझे ।'

और इस नए घर में बालक के पिता मेहमान से कहते हैं, 'छोड़ दीजिए इसे। हमारे बच्चे गेंद की तरह उछालने के और दिल्लगी करने के खिलौने नहीं हैं। क्षमा करना जी!' ऐसे नए बालक के प्रति नए विचारों वाली मां अपनी सहेली से संकोचपूर्वक कहती है, 'बहन, बच्चे का चुंबन न लें। देखो ना, कहां रुचा इसे? हमें ऐसा प्यार नहीं जताना चाहिए कि जो बच्चे को रुचे नहीं!' माता-पिता दोनों समझदार हैं। खास-दोस्त आते हैं और बालक से कहते हैं, 'देखें तुझे गाना आता भी है? गा देखें! तुझे तो इनाम मिलना चाहिए। बहुत होशियार है तू।' कोई कहता है, 'अरी देख, तुझे तो कुछ भी नहीं आता। वह लड़की कैसे गूंथ रही है ?' ऐसा कहने वाले को माता-पिता इशारे से मना करते हैं और फिर बाद में स्पष्टीकरण देते हैं, 'मैं आपको बताऊँ ? बालकों को निंदा-स्तुति से मुक्त रखना चाहिए। वे तो इनके बिना भी मजे करते हैं।'

क्या आप भरोसा करेंगे कि इस नए घर में नए बालक के साथ नये विचारों में संस्कारित बना पिता हास्य-विनोद करता है। वह उसके साथ खेलता है, उसके साथ बाल-जीवन की छोटी-छोटी बातें करता है, बालक के साथ समभाव से चर्चा करता है। तर्क-वितर्क भी करता है वह, और आदरपूर्वक उसके जीवन को जानने-समझने और उसकी तकलीफों को दूर करने हेतु तत्पर रहता है! एक वकील, डॉक्टर या व्यापारी अपने ग्राहक को न खोने हेतु जितना ध्यान रखता है, उससे अधिक ध्यान ऐसे माता-पिता अपने बालक का रखते हैं कि वह उनके अंतःकरण के पास रहे, कहीं खो न जाए! और माता अपने बच्चों के नाजुकतम सवालों को दबाए बिना अत्यंत स्वाभाविकता से उन्हें जवाब देती है। माता फूलों से भरे बगीचे में फूलों की देवी की मानिंद उन बालकों के बीच घूमती है। बच्चे हंसते हैं, खिलखिलाते हैं, माता को सुगंध प्रदान करते हैं और अभिमान का मौका देते हैं कि बाल-मानस की दृष्टि से मेरा घर पृथ्वी का स्वर्ग है!

ऐसा नया घर हममें से कितनों ने देखा है?

आने वाले कल की जो नयी शाला बन रही है, क्या उसका भी आपको परिचय दूं? यह एक स्वप्न है, ऐसा भले ही कहें, पर वह अब नयी शाला नहीं रही, वह बालकों का दूसरा घर है!

काम करते-करते थका हुआ बालक इधर एक तरफ शांति से लेटा आराम कर रहा है। उधर वह बालक अपने मित्र को हंसते-हंसते बता रहा है कि उसने घर पर क्या खाया-पिया था। एक बालक झूले पर बैठा है। उधर एक बालक तरह-तरह के खिलौनों से खेलने में मशगूल है। पर ये खिलौने बाजार में बिकने वाले हाथी, घोड़े या मूर्ति जैसे नहीं, इधर इस बच्चे की तरफ तो देखो, काच में चेहरा देखते-देखते कब से अपने बालों को संवार रहा है! सिर्फ तीन साल का है। यह सचाई है या सपना कि इतने नन्हें-नन्हें बालक अपने आप चालीस, पचास बालकों का नाश्ता सावधानी से परोस रहे हैं। जमीन पर गिरने वाली नाश्ते की चीजों को मुंह में डालने के बजाय टोकरी में डालते हैं। ये रहे तीन बच्चे, धीमे-धीमे, खड़का किये बिना उघाड़े प्यालों को रकाबियों से ढंक रहे हैं। यहां एकाग्रता है, काम का आनंद है, स्वस्थता व शांति है, स्नायुओं पर नियंत्रण है। यह एक छोटी-सी मंडली इतनी कम उम्र में साथ मिल कर सहकारी काम कर रही है।

जरा कल्पना कीजिए। दो बालक यहां बैठे-बैठे चित्र बना रहे हैं। वहां एक बालक खिड़की को साफ कर रहा है। उधर एक बालक आसन समेट रहा है। उधर वह बालक हाथ धोकर ट्वाल से पौंछ रहा है।

इस कक्ष में यह धूप की गंध कैसी है? भीतर कौन है? क्या पूजा या आराधना का कक्ष है? अरे, यहां तो ये बालक बैठे हैं, स्वस्थ व शांत! निःशब्द! इस धुंधले प्रकाश में अगरबत्तियों की लाल रोशनी सुशोभित हो रही है। इतने सारे बच्चे क्या शोरगुल या गड़बड़ मचाने वाले ही होते हैं? यह बात मानने तक में नहीं आती कि चालीस-पचास बच्चों की नन्हीं-सी मंडली ध्यान-मग्न होकर ध्यान द्वारा आनंद व आराम की खोज करे।

पर इन तमाम प्रवृत्तियों में शाला कहां है? यहां तो बच्चे पतिंगों के पीछे दौड़ रहे हैं, और उन्हें कोई रोकता तक नहीं। यहां एक बालक कब से रेत के घरौंदे बना रहा है, कोई उसे पढ़ाता तक नहीं। यहां चार बालक उस कोने में गड्ढे खोदकर मैथी व मूंग उगा रहे हैं और छोटी-सी झारी से पानी सींच रहे हैं, यहां शाला कहां है? पढ़ाई कहां है? शिक्षक महाशय कहां है?—वे ये बैठे। इस बालक को पेंसिल छील कर दे रहे हैं, शौच करके आए बालक को पानी से धुला रहे हैं, वह एक बालक दौड़ता हुआ आकर नमस्कार करता है और ये स्वीकार कर रहे हैं, उस नए घर के पिता की तरह बालक को कहानी पढ़ कर सुना रहे हैं या मां की तरह समाचार पूछ रहे हैं कि 'क्या बात है भाई?' 'क्या खाया था आज', 'क्या पीया था?' यहां शिक्षक कहीं नहीं है। और ये शिक्षक भाई या बहन ही बालक के सर्वस्व हैं। बालक के विकास की इन्हें चिंता है। ये विकास के शास्त्र को समझते हैं। बालक की आवश्यकताओं को जानते हैं और उसी के अनुरूप वातावरण रचकर वहां बालक को एक वृक्ष की तरह उगने, खिलने, फलने-फूलने को मुक्त करके एक सहायक बागवान की तरह पास खड़े हैं।

यह नया घर ही नयी शाला है।

नए युग के ये पूर्वचिह्न कहीं भावी के गर्भ में हैं तो कहीं सुस्पष्ट दिख रहे हैं! लेकिन इस बाल-युग का नया शुभारंभ तो हो ही चुका है। आज पूरी दुनिया में बाल-शिक्षण, बाल-विकास, बाल-साहित्य, बाल-पोशाक, बाल-आहार आदि अनेक प्रश्नों की उत्साह एवं आग्रहपूर्वक चर्चा चल रही है। बालकों के उद्धार में संसार का उद्धार देखने वाले विद्वान् क्रांत-दृष्टि से कह रहे हैं–नयी पीढ़ी को हाथ में लो, नयी पीढ़ी को व्यक्तित्व प्रदान करो, नयी पीढ़ी को परतंत्रता से बचाओ। नयी पीढ़ी को व्यष्टि समष्टिगत जीवन का मेल समझाओ। इस दुनिया को लड़ाई-झगड़ों से, बैर-द्वेष से, युद्धों से, अनाथाश्रमों और पागलखानों से, कचहरियों और कैदखानों से, गरीबी और विलास से, सत्ता और गुलामी से बचाना हो तो नयी पीढ़ी की शिक्षा को नया स्वरूप प्रदान करो। जिस घर और जिस शाला ने आज की यह दुनिया बनाई

है (दुनिया को घर और शालाएं ही बनाती हैं) उसे तोड़ डालो और अंधेरे को मिटाने के लिए नई रोशनी आने दो।

इस नई दुनिया के नए पैगाम का परचम आज किसके हाथ में है? जिन्होंने अथाह श्रम और सेवा में जीवन के वासंतिक दिवस बालक के पास बैठ कर बिताये हैं, जिन्होने परेशान व बेचैन बालकों की चीख-पुकारें ही नहीं, बल्कि उनके अंतःकरण की व्यथा को सुनकर दुनिया भर को चुनौती दी है, कि 'बालक को आजादी दो', 'बालक को सम्मान दो' और जिनके पूर्ववर्ती आचार्य आज आजादी की प्रत्यक्ष भेंट समर्पित की हुई देखकर अपना जीवन धन्य मानेंगे, जिन्होंने एक बालक को नहीं अपितु अनेक बालकों को शरीर नहीं, बल्कि जीवन देकर जगन्माता का अमूल्य पद हासिल किया है वे सब आज के बाल-पैगंबर हैं। उनके जीवन का तपश्चर्या का आज उत्सव है।

यह नया युग आज हिन्दुस्तान में आ चुका है, पर यह उसकी शुरुआत मात्र है। इसे घर-घर ले जा कर स्थापित करने के लिए अभी हमें बहुत-कुछ करना शेष है। लेकिन इससे पहले जरा देख तो लें कि हमारे यहां क्या-क्या काम हो चुका है। सिर्फ गुजरात पर ही दृष्टिपात कर लें। इस समय हमारे यहां शाम के समय जितने तारे नजर आते हैं इतनी ही मोंटेसरी शालाएं हैं और अंगुली के पोरों पर गिने जा सकें इतने मोंटेसरी घर हैं। तीन हजार मोंटेसरी सदस्य हैं। पर मोंटेसरी साहित्य अभी कितना कम है? घरों व शालाओं में अभी मोंटेसरी भावना (स्पिरिट) आते बहुत वक्त लगेगा। तथापि मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि बालक के प्रति हमारी दृष्टि निरंतर श्रेष्ठता की तरफ बढ़ रही है। कल की तुलना में हम आज बालक के लिए अधिक चिंतातुर बने हैं। पर अब भी बहुत कुछ शेष है। बहुत कठिनाइयां हैं। हमें इन तमाम कठिनाइयों पर नियंत्रण करना पड़ेगा।

भारतीय मोंटेसरी पद्धति को भारत में अपनाते वक्त हम इसे भारतीय प्राण से अलंकृत करेंगे। मोंटेसरी पद्धति यहां प्रयोग–भूमि ही बनी रहेगी, भले ही वह हिन्दुस्तान के छप्परों नीचे, हिन्दुस्तान की जमीन पर,

हिन्दुस्तान के आसन पर बैठे। हम मोंटेसरी वाली टेबल-कुर्सियों के बजाय बालकों को अपने (मन से) चित्र बनाने का काम पाटों (बाजोट) पर करने को देंगे। भारतीय मोंटेसरी शाला के बालक नाश्ता लेंगे, पर टेबल-कुर्सी पर बैठ कर या जूते पहने नहीं। मोंटेसरी-गृह में बालकों को हम कला का वातावरण देंगे, पर हमारी पुष्प-सज्जा व शृंगार का काम मिट्टी के पात्रों में बबूल, आंवला या नीम के पत्तों से ही हो जाएगा। भारतीय मोंटेसरी बालकों के हाथ में वाद्य-यंत्रों के लिए इकतारा और मंजीरे होंगे। प्लास्टिसीन के बजाय कुम्हार के यहां की सादी माटी से बालक तरह-तरह के खिलौने बनायेंगे। हमारी शाला के आंगन में बालक राई, मैथी, तुलसी, मरवा, कनेर, बारहमासी आदि के बीच घूमेंगे। यहां के बगीचों में आंवला भी होगा।

फिर भी इस देशी शाला में हाथ पौंछने के लिए ट्वाल होगा ही होगा, पैर पौंछाने के लिए पांवदान के बिना काम नहीं चलेगा। खाने के लिए हाथ धोना अनिवार्य होगा, और खाने के बाद कुल्ले भी करने पड़ेंगे। बालों को संवार कर रखना होगा, नाक पौंछने के लिए रूमाल जरूरी होगा और मल-मूत्र के लिए निर्धारित स्थान तो होंगे ही। ये सब नहीं होंगे तो मोंटेसरी शाला नहीं बनेगी।

हमें मोंटेसरी शाला स्थापित करनी ही पड़ेगी, और वह भी हमारी अपनी आबोहवा में ही। हमें अपने देश का शास्त्रीय दृष्टि से अवलोकन करके उसके आंकड़ों पर बालकों की पढ़ाई का प्रबंध करना चाहिए। स्वतंत्रता और स्वयंस्फूर्ति का वातावरण (याने प्रयोग-भूमि की स्वाभाविक आधारभित्ति) हमारे यहां भी हो। शास्त्रीय शोध के लिए सत्यनिष्ठा, तटस्थता, अमताग्रह चाहिए, साथ ही समाज को रूढ़ियों व धार्मिक कट्टरता से मुक्त होना चाहिए। इनके अलावा बाल-विकास को मापने के तथा विकास के तमाम सहायक साधन भी यह प्रयोगशाला स्वतः मांग लेगी। यह प्रयोगशाला, धर्म, जाति या देशों के फर्क को स्वीकार नहीं करेगी। भारत के बच्चे आज शरीर व मन से कहां हैं, और अगला कदम किसमें निहित है, यह खोज यह प्रयोगशाला हिन्दुस्तान के लिए ही करेगी। जिस प्रकार मोंटेसरी

पद्धति का अर्थ स्पेन अपने लिए, स्विट्जरलैंड अपने लिए, आयरलैंड अपने लिए करता है वैसे ही हिन्दुस्तान भी (अपना मौलिक) करेगा। ऐसी प्रयोगभूमि को जब तक हम स्थान-स्थान पर स्थापित नहीं कर देंगे तब तक समझ लें कि हमारा काम बहुत धीमा है।

हम, याने गांव ! और गांव की शिक्षा का हल याने राष्ट्रीय जीवन का समाधान। बाल-जीवन के प्रश्नों का हल ढूढ़ने के लिए हम मोंटेसरी को वहां भी ले जाएंगे। स्वावलंबन और स्वतंत्रता ये दोनों मोंटेसरी पद्धति के प्राण हैं। ये चीजें मोंटेसरी पद्धति के पास न होती तो हमें उसकी कोई जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन गांवों को आज श्रममय जीवन की आवश्यकता है। हमारे वर्तमान जीवन की यही एक महान बुराई है कि वह प्रमादी और परावलंबी बन गया है। गांव इसी कारण से लूटे जाते हैं कि वे अज्ञान में डूबे हैं, वहमों के अंधेरे में गर्क हैं, बुद्धि की जड़ता में खोये हैं। यही वजह है कि गांव आज सबसे अधिक भय-त्रस्त है। और गांव याने हम सब : हम, हमारे शहर, हमारा सम्पूर्ण राष्ट्र। इन गांवों के लिए हमें यह मोंटेसरी पद्धति दूर फैंक देने की चीज लगती, अगर यह निर्भयता की शिक्षा देने वाली न होती, स्वावलंबी बनाने वाली न होती, निर्मल ज्ञानदात्री न होती, गुलामी से मुक्ति देने वाली न होती।

जो बालक आज गंदगी में सड़ चुका है, जो माता-पिता के दुराचारों और दुष्चक्रों में अंतिम सांसें गिन रहा है, जिस बालक की शिक्षा अक्षरज्ञान जितनी भी नहीं है, जिस बालक की वैज्ञानिक आंखें मुंदी हैं, जिस बालक की भावनात्मक तीव्रता पशुता के उस पार जाने नहीं लगी, जिस बालक के नाखून बढ़े हुए है, माथे में जुएं भरी हैं, कपड़े फटे हैं, दुर्गन्ध फूट रही है, नाक बही जा रही है, कान और आंख से मवाद बह रहा है, और जो गांव की धूल में पड़ा है, वही बालक आज शहरों के गरीब मोहल्लों में, मिल-मजदूरों की झोंपड़ियों में, पिछड़ी जातियों के मोहल्लों में है। ऐसे बालक की मूक वेदना को सुनकर ही मोंटेसरी दौड़ी आई है। जिस प्रकार गरीबों की सहायतार्थ दौड़े आने वाले को पैगंबर की संज्ञा मिलती है, उसी

प्रकार डॉ. मोंटेसरी को भी आने वाले युग में अवतारी जैसा ही सम्मान मिलेगा।

पर डॉ. मोंटेसरी की दृष्टि बड़ी बेधक है। गांवों के दुःखी बालकों के दुःख को जैसे उन्होंने देखा, वैसे ही ऊपर से दिखने वाले शहरों, श्रीमंतों, अमीर, उमरावों के बालकों के दुःख को भी वे देख सकीं। आयाओं और नौकरों के हाथों में कुचले जाते, धमकाये जाते बालकों को वे सहन न कर सकीं। माता के मौजूद रहते बालक को दूसरी औरतों का दूध पिलाने वाली अमाताओं को उन्होंने खेदपूर्वक देखा। सुंदर वस्त्र पहने हुए लेकिन नौकरों के द्वारा अपंग बने बालकों को देखकर उनका दिल जलने लगा, और प्रेम तथा हेत में प्रभु द्वारा मांगे हुए बालकों को मिथ्या प्रेम व हेत के नीचे कुचले जाते देखकर उन्हें बहुत पीड़ा हुई। उन्होंने बालकों की तरफ देखा और उनके बाल-हृदय में प्रवेश किया। बाल-हृदय के निमित्त उन्होंने हमें मोंटेसरी पद्धति का अवदान दिया। आज हमें यही विचार करना है कि इसे स्थान-स्थान पर कैसे लेकर जाएं।

हम याने हम सब ! हम याने हमारे धनी व निर्धन, हम याने शिक्षा की सत्ताएं और हमारी राज्य सत्ताएं, और हमारे प्रत्येक मां-बाप। हम सब मिल कर जागें, अपने घरों को रहने योग्य बनायें अपने धन को लाखों बालकों के लिए खर्च करें, अपनी शिक्षा-सत्ता का बालकों को निमित्त सदुपयोग करें तथा अपनी राज्य-सत्ता भी बालकों के राज्य के निमित्त खर्च कर डालें।

अभी हम लोग कितनी कम संख्या में हैं। मोंटेसरी संघ के मंत्री तीन हजार सदस्य गिनाते हैं। पर गुजरात की आबादी एक करोड़ तक पहुंच रही है। संघ का प्रत्येक सदस्य मोंटेसरी के प्रचार के लिए कितना सहयोग देगा ? प्रत्येक सदस्य एक-एक नये सदस्य को बढ़ाए तो थोड़े ही वर्षों में गुजरात में मोंटेसरी की एक न्यात बन जाए। इस मंच से मैं संघ के मंत्रियों से अर्ज करता हूं कि उनके प्रयत्नों का गुजरात सम्मान करता है, इसका प्रमाण आपकी रिपोर्ट में मौजूद है, और मुझे विश्वास है कि गुजरात आपके प्रयत्नों

को धन्य करेगा। लेकिन धनिकों से मैं कहे बिना नहीं रह सकूंगा। केवल पचास आजीवन सदस्य हैं, याने विशाल समुद्र में खसखस ! अकेले अहमदाबाद में सैकड़ों की संख्या में आजीवन सदस्य हो सकते हैं। प्रत्येक आजीवन सदस्य मोंटेसरी के प्रचार का ध्वजस्तंभ है। मोंटेसरी पद्धति को अपना बनाने के लिए अगर धनिक धन देगा तो विद्वान लोग अपनी बुद्धि देंगे। हम जानते हैं कि मोंटेसरी का साहित्य हमारे यहां कितना कम है। मोंटेसरी के अध्ययनकर्त्ता अभी कोने-कचौने में पड़े हैं। अध्ययन के साधन कम हैं। क्या हम साहित्य की अभिवृद्धि के लिए अपना धन व बुद्धि खर्च करने में विलंब करेंगे ? एक बार हमने समझ लिया कि बालक हमारा महान धन है, हमारा यह जीवन उस पर निर्भर है। यह आसपास पड़ी समस्त जीवन प्रवृत्ति तो इसकी होनी ही है, खुद अपना जीवन भी हम बालक के लिए ही जीते हैं। तो हम अपना सर्वस्व अर्पित कर देंगे। इसीलिए मुझे विश्वास है कि किसी भी देश में, किसी भी काल में कोई बात समझ में आ जाए तो बाद में धन और बुद्धि कभी पीछे नहीं रहते।

हमारी शिक्षा की सत्ता को यह नवयुग लाने के लिए अब अपनी पद्धति बदलनी पड़ेगी। जो काम सारा संसार कर रहा है अगर उसे भारतवर्ष नहीं करेगा तो जाएगा कहां ? अब तो शिक्षा का बजट सबसे पहले –और उसमें भी बाल-शिक्षण का बजट सबसे पहले तैयार होना चाहिए। अध्यापक महाशय को पुस्तकों के भंडार के बीच से बाहर निकाल कर बच्चों के बीच गाना, बजाना, कूदना चाहिए। अर्थात् अध्यापक को पुराना बाना त्याग कर नया बाना पहनना पड़ेगा। बालकों को तब तक संतोष नहीं मिलेगा जब तक कि अध्यापकगण सिर्फ परीक्षा देने के लिए ही किंडर गार्टन या मोंटेसरी पद्धतियों को पढ़ेंगे और बाद में, वापस भूल जाएंगे। बालक तत्काल कह देंगे कि हमें बोदे और पचास वर्ष पुराने बाल-शिक्षण के संशोधन नहीं चाहिए, तुम्हारी शिक्षा की सत्ता हमें तभी मान्य है कि जब वह हमें सत्ता का शिक्षण प्रदान करने की अपेक्षा समानता की शिक्षा दे। हमारी शिक्षा-सत्ताओं को ही करना है यह काम !

जिन थोड़े-से देशी राज्यों ने मोंटेसरी पद्धति को शुरू किया है उनका अभिनंदन करते हुए मुझे प्रसन्नता है। एक राज्य के बालक सुशिक्षित हुए

अतः एक राज्य अधिक सुखी, समृद्ध और बलवान बना, क्योंकि राज्य अपने बालकों पर निर्भर करता है। जिन राजाओं को ऐसा शौक है कि उनकी प्रजा के बालक उत्तम शिक्षा हासिल करें, उन्हें मेरा धन्यवाद! पर अभी अनेक राजाओं ने शायद मोंटेसरी पद्धति का नाम तक नहीं सुना होगा। लेकिन क्या वे पीछे रह सकेंगे? स्विट्जरलैंड ने अपने राज्य में मोंटेसरी पद्धति को सार्वत्रिक एवं अनिवार्य कर दिया है, इटली की रानी ने मोंटेसरी बाल-मन्दिरों को खुला कर दिया है और मुसोलिनी ने प्रमाण-पत्र के बिना एक भी बाल-विद्यालय चलाने से इन्कार कर दिया है। तब भला भारत के राजा मोंटेसरी पद्धति से अब कितनी दूर रह सकेंगे?

हमको अभी बहुत कुछ करना है। हम में से कितनों ने तो पूरी दुनिया में घूम-घूम कर देश-विदेश की बाल-शालाओं तथा बाल-शिक्षण का अध्ययन किया है। अनेक जिज्ञासु विद्यार्थियों को बाल-शिक्षण की थाह लेने के लिए दुनिया भर में प्रवास पर भेजने का कदम हम कब उठायेंगे! गुजरात के पास क्या द्रव्य कम है? गुजरात दानवीर है। विदेश में जाकर अध्ययन करने के लिए कोई छात्रवृत्ति देने वाली संस्था घोषित करने में गुजरात को कितनी देर लगेगी? हम अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए प्राचीन काल से ही देश-देशांतरों से सम्बद्ध रहे हैं, और समय-समय पर परदेश की समृद्धि को अपने देश में लाकर हमने अपने देश को समृद्ध बनाया है। आज दुनिया भर में बाल-शिक्षण की भी कितनी ही कोठियां हैं। हम भी अपने लिए उपयोगी माल लाने वहां क्यों न जाएं? हमारा एक-एक श्रीमंत विलायत जाते वक्त विलायत के प्रवास से प्राप्त धन से एक-एक मोंटेसरी शिक्षक तैयार करा सकता है और निश्चय कर ले तो गरीबों के लिए अपनी निजी एक-एक मोंटेसरी शाला चला सकता है। मुझे विश्वास है कि आने वाले एक दशक में बाल-शिक्षण निष्णात स्त्री-पुरुषों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाएगी।

हमारी दक्षिणामूर्ति संस्था में चलने वाला अध्यापन-मंदिर कितना छोटा है। कितना कोने में पड़ गया है। जिस दिन गुजरात एक केन्द्रवर्ती विशाल मोंटेसरी अध्यापन-मंदिर की मांग करेगा तभी मैं समझूंगा कि यहां

के निवासियों के मन में बालकों का अत्यधिक महत्त्व है। वे उन्हें मिट्टी के पुतले मात्र नहीं समझते अपितु भगवान द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य वरदान समझते हैं। गुजरात की राजधानी में स्वतंत्रता का महामंत्र प्रदान करने वाली शिक्षण संस्था का महत्त्व गुजरात समझ लेगा और जब उसका लाभ हासिल करने के लिए पूरा गुजरात उमड़ पड़ेगा तभी यहां के बालकों की हर प्रकार की गुलामी का नाश हो जाएगा। उस समय नये गुजरात का उदय होगा। अनेक लोगों को मोंटेसरी अध्यापकों की आवश्यकता पड़ेगी। राज्यों से मोंटेसरी शिक्षकों की मांग आने लगी है। विदेशों से भी मोंटेसरी शिक्षकों की मांग आ रही है। तब यह ऐसे कहा जाएगा कि स्थान-स्थान पर मोंटेसरी शालाओं और शिक्षकों की जरूरत नहीं है। पर यह काम सिर्फ अध्यापन-मंदिर ही कर सकेंगे

हमारे लिए अधिक महत्त्व का एक काम और है और वह है हमारी गुजराती जनता को सुशिक्षित करने का, मोंटेसरी पद्धति की तैयारी के लिए भूमिका बनाने का। सम्पूर्ण गुजरात में बाल-जीवन, बाल-विकास व बाल-शिक्षण की नूतन दृष्टि को हम तभी फैला सकेंगे कि जब अनेक बाल-शिक्षण-सेवक मिशनरी की भांति बाल-शिक्षण का संदेश गांव-गांव तक फैलायेंगे और अनपढ़ जनों की आंखें खोलेंगे। मोंटेसरी संघ में ऐसे प्रचारकों का उल्लेख देखने में नहीं आया। पर इस काम को संघ संभाल सकता है। बल्कि गुजरात एक विशालकाय संस्था का संचालन कर सकता है। माता-पिता के लिए उपयोगी लाखों पेम्फ्लेट और पुस्तकें गुजरात में रोजाना उन तक पहुँचाई जानी चाहिए। नागिरकों के अंधकार को दूर करने के लिए दुनिया भर में यही उपाय काम में लिया जाता रहा है। और जिस तरह से हम अपना व्यापार फैला रहे हैं बढ़ा रहे हैं। उसी तरह बाल शिक्षण के इस संदेश का भी प्रसार-प्रचार किया जाना चाहिए। ऐसे लोग मिल जाएंगे, ऐसा मुझे विश्वास है और कार्यकर्त्ता जुटाने के लिए धन की चिंता कभी सामने रही नहीं। हमारा जन-समाज बड़ा ही कद्रदान है। जिस श्रीमंत ने अपने नाम को प्रच्छन्न रखकर 'वसंत बाल-शिक्षण प्रचारमाला' हमें प्रदान की, ऐसे हीरालाल अमृतलाल की यहां कमी नहीं है। मुझे विश्वास है कि 'वसंत

माला' के जैसी कितनी ही बाल-शिक्षणमालाएं हम शुरू करेंगे, और पुनः निवेदन करता हूं कि इसके लिए पैसों की कमी नहीं रहेगी।

मोंटेसरी के उपकरण भी हमें चाहिए। सौभाग्य से श्री चमनलाल वैष्णव की देखरेख में हम मोंटेसरी के उपकरण प्राप्त कर पा रहे हैं। यहां मैं कहना चाहता हूं कि 'नकली माल से सावधान' रहें। मोंटेसरी के उपकरणों की मांग है और इनसे पैसा मिलता है, अतः कारीगर अपनी इच्छानुसार उपकरण बना देंगे। पर ध्यान रहे कि मोंटेसरी के उपकरण वैज्ञानिक प्रयोग के उपकरण हैं। ये सुथार से नहीं, कारीगर द्वारा ही बनाए जा सकते हैं। कारीगर के पीछे भी श्री चमनभाई जैसा अध्ययनशील संस्कारी व्यक्ति होना चाहिए।

हमारी एक अन्य आवश्यकता है ब्यूरो ऑफ मोंटेसरी लिटरेचर याने बाल शिक्षण की प्रगति से बराबर अवगत कराते रहने वाली संस्था। मैं जानता हूं कि श्री भोगीलाल ठाकुर इस काम को करने का जिम्मा ले चुके हैं। मुझे उनसे इस दिशा में बहुत उम्मीदें हैं।

पर हमें बालक के माता-पिता को नहीं भूलाना चाहिए। उन्हें बाल-शिक्षण की दृष्टि देने का प्रयत्न किये बिना हम उन्हें उलाहना भी कैसे दे सकते हैं। वास्तविक शिक्षा-गुरु तो माता-पिता हैं और घर पहली शाला। अतएव माता-पिता के लिए अध्यापन-मंदिर खोलने का विचार मनोरंजक होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। मैं तो अल्प संख्या में अपने बच्चों को गोदी में लिये बैठे माता-पिताओं को पढ़ाता हूं और मैं तथा माता-पिता व्याख्यान के बीच में बालकों की 'ऐं-ऐं' की बाधा को सहन कर लेते हैं। मुझे पता है कि श्री दक्षिणामूर्ति संस्था माता-पिता के लिए अध्यापन-मंदिर खोलने का इरादा कर रही है। उसका यह मनोरथ शीघ्र पूर्ण हो। इस तरह से गुजरात अनगिनती माता-पिताओं को पढ़ने की सुविधाएं शीघ्रातिशीघ्र प्रदान कर सकेगा।

अब जरा मोंटेसरी-शिक्षकों पर गौर करें। उनसे मेरा अनुरोध है कि अभी हम कम संख्या में हैं, पर मोंटेसरी पद्धति की प्रगति का सारा भार

उन्हीं पर टिका है। जहां-जहां भी हम नियुक्त हैं वहीं-वहीं अडिग भाव से खड़े रहें। मुझे आप लोगों में अथाह विश्वास है। मुझे भरोसा है कि आप निश्चल भाव से मोंटेसरी पद्धति की साधना करेंगे, धन का लालच नहीं करेंगे। आपका पद अपने आप ही ऊंचा है। आपकी प्रवृत्ति स्वतः ही कल्याणकारी है। आप नम्रतापूर्वक बालक के साथ अपनी प्रगति साधते हुए जीवन को सार्थक बनायेंगे। आपका भविष्य उज्ज्वल है।

मैं बहुत बोल गया। पर बोलते-बोलते हम यहां पर जिसके निमित्त एकत्र हुए हैं और जिसके लिए यह समारंभ हुआ है, उस बालक को नहीं भूलेंगे। हमारे लिए तो वह कहीं भी बाधक नजर नहीं आता। हाथ-पांव छोटे-छोटे हैं, उसके, और इन्द्रियों का अभी पूरा विकास हुआ नहीं है। उसकी भाषा बन रही है, बुद्धि खिल रही है, पर उसकी आत्मा महान है। उसकी विकास-शक्ति अमर्यादित है। बालक को हम न भूलें, क्योंकि वही हमारी आशा है, हमारी अनंत चिरंजीविता है, हमारा सर्वस्व है। वह हमेशा हमारे आगे रहे और हम उसके पीछे। उसे विकास के हर अधिकार हैं और इसका उत्तरदायित्व हमारा है। हमें भविष्य में उसके पीछे जाना चाहिए और उसके साथ-साथ हमें अपना भविष्य गढ़ना है। हमारी समस्त जीवन-प्रवृत्तियों में बालक हमारी नजरों के सामने रहना चाहिए। घर में, बाजार में, बाग, बगीचे में रेल में, सर्वत्र बालक को प्रथम स्थान पर रखना चाहिए।

अतएव बालक को उचित स्थान देने-दिलाने के लिए आइए, हम कमर कसें, हथियार थामें और युद्ध करें। आइए, बालक के बीच आने वाले अवरोधों को हम हटा दें। बालक के लिए, बल्कि, स्वयं अपने लिए आइए, हम इस दुनिया को अस्थिर कर डालें, व्यथित और अशांत कर दें। बालकों के अधिकारों के निमित्त शिक्षकों और अभिभावकों द्वारा छेड़ा हुआ युद्ध भले ही इतिहास में न लड़ा गया हो, पर हम लड़ेंगे। इस युद्ध में हम जात-पांत भुला दें, रंगभेद भुला दें और एकमात्र बालक के ही लिए, समग्र मानव जीवन की उम्मीद के लिए, समग्र मनुष्य जीवन की मनुष्यता के परिणाम के

लिए विजयी युद्ध करें। यह युद्ध हमारी संकीर्णता, हमारे मताग्रह, हमारे अज्ञान, हमारी गुलामी, हमारे भेदभाव और हमारी नास्तिकता के विरुद्ध लड़ना है हमें। पहले हमें इनसे मुक्त होना पड़ेगा, तभी बालक के प्रति हमारा युद्ध पूरा होगा। और हमारे जीवन का कर्त्तव्य भी तभी पूरा होगा। आइए, हम एक होकर अपने इस कार्य की सिद्धि के लिए प्रार्थना करें कि तेजोमय हमें तेज दे, चेतनमय हमें चेतना दे, अनंत विजय हमें विजय दे। □

तृतीय खंड

बाल मन्दिर का उद्देश्य

मेरी अभिलाषा बाल-मन्दिर को बाल-विकास के अवलोकन का उत्तम प्रयोग स्थल बनाने की है। बालकों को मैं तरह-तरह के विषय पढ़ाना नहीं चाहता; कारण यह है कि बालकों को क्या पढ़ना चाहिए और क्या नहीं, अथवा उन्हें क्या पढ़ाना चाहिए और क्या नहीं, इस संबंध में मैं अभी कोई पक्का निर्णय ले नहीं पाया। ऐसा निर्णय लेने जैसा अनुभवी और सामर्थ्यवान भी मैं अभी अपने को नहीं मानता। इसके अलावा ऐसा निर्णय उचित है या अनुचित, बालकों के लिए फायदेमंद है या नुकसानदेह, यह भी मैं अब तक नहीं समझ पाया। लेकिन मेरी दृढ़ मान्यता है कि बाल-विकास के अवलोकन की कोशिश तथा प्रबंध में बाल-मंदिर के बालकों का शिक्षण भी प्रबंध के साथ-साथ स्वतः होता जाएगा।

इधर जिस तरह मोची नाप के जूते बना कर देता है, दरजी नाप के कपड़े सी कर लाता है, व्यापारी जरूरत के मुताबिक हमें माल उपलब्ध कराता है, उसी तरह शिक्षक ने भी लोक में समाज, राष्ट्र या व्यक्ति की वैयक्तिक आवश्यकता के अनुरूप बालकों को शिक्षित करने का प्रयोजन प्रचारित कर रखा है, पर समाज, राष्ट्र या व्यक्ति की आवश्यकता के अनुरूप कुम्हार की तरह घड़े बनाने का काम करने वाला हमारा शिक्षक माटी के स्वभाव को, माटी की जाति को, माटी के ज्वलंत उद्देश्य को, माटी के सच्चे उपयोग को तथा उसकी भावी आवश्यकताओं की जानकारी व समझ रखने में निष्फल रहा है।

किसान या बागवान वनस्पति-वर्धन के नियमों को वनस्पति जगत् पर लागू करने की भूल नहीं करता। उसे भली-भांति ज्ञान है कि अगर वह वनस्पति-वर्धन के अपने ही नियमों का अनुसरण करते हुए खेती या बागवानी का काम करेगा तभी वह सफल हो सकेगा। कदाचित वनस्पति जगत् पर अपने नियमों को लागू करके निष्फल रहते-रहते ही उसने अपना स्वानुभूत उत्तम ज्ञान अर्जित किया होगा। अगर हम सईस से घोड़े की विशेषताएं, उसके आहार, उसके स्वभाव आदि के बारे में पूछताछ करें तो

उसका उत्तर काल्पनिक नहीं होगा अपितु घोड़े के सतत परिचय से उत्पन्न ठोस अनुभव की बातें होंगी।

कुम्हार का गधा अपने मालिक को वांच्छित काम करके देता है, तो इसका कारण सोटे की बजाय मालिक का गधे के मानस का ज्ञान अधिक है। कब तो गधेजी लात मारेंगे और कब हेंचू-हेंचू करके मालिक को रिझाएंगे, ये बातें कुम्हार बहुत अच्छी तरह जानता है। गूजर अपने मवेशियों की विशेषताओं को जानकर– उन्हें सम्मान देकर ही उनसे मनचाहा दूध प्राप्त कर सकते हैं। अपने पशुओं को पीट कर किसान उनसे खेती नहीं करा सकता। घांची अपने बैल की आंखों पर पट्टियां तभी बांध सकता है, जब उसे उसके स्वभाव की जानकारी हो। अड़ कर खड़े हो जाने वाले घोड़े को गाड़ीवान कैसी समझदारी से आगे की ओर रवाना कर देता है, यह हमने कई बार देखा है।

इन बातों से हम इतना तो जान ही गए कि मनुष्येतर प्राणियों से काम निकलवाने वाले लोग उनके स्वभाव को देखकर, उनके वृद्धि एवं क्षय के नियमों को भली-भांति जानकर ही उनसे काम लेते हैं और लाभ लेते हैं। तभी तो ये बातें हमारे समाज में सर्व सामान्य हैं कि पौधों को खाद देनी चाहिए, भैंस को गंवार (बांटा) देना चाहिए, आदि-आदि। लेकिन मनुष्य से सम्बद्ध कार्य, उसके विकास के कार्य, बाल-विकास के कार्य, शिक्षण के कार्य उसके अवलोकन पर या उसकी आवश्यकताएं पूरी करने के उद्देश्य पर निर्मित हैं, क्या हम यह बात बेधड़क कह सकते हैं? एक कुम्हार को अपने गधे की विशेषताओं का जितना ज्ञान है, क्या उतना ज्ञान एक अच्छे अध्यापक को अपने विद्यार्थी के मन का है? एक राजगीर ईंटों या चूने के बाबत जितने नियमों का ज्ञान रखता है, क्या एक शिक्षक अपने बालक के शरीर एवं बुद्धि से संबंधित उतने नियमों का ज्ञान रखता है? एक माली द्वारा अपने वृक्ष को अनुकूल वातावरण देने के पश्चात् थोड़े ही समय में पौधा सुंदर फूलों से लद जाएगा, ऐसा अचल विश्वास और अक्षय धैर्य रखकर स्वाभाविक परिणाम की प्रतीक्षा करता है। क्या ऐसा ज्ञान, ऐसा

विश्वास, ऐसे धैर्य के गुण शिक्षकों में हैं? अगर इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक मिलें तो हमें अपना कर्त्तव्य रेखांकित कर लेना चाहिए।

मकान बनाने वाले राजगीर भौतिकशास्त्र के सिद्ध नियमों को जानते हैं, तभी तो मकान बना सकते हैं; कुम्हार प्राणि-स्वभाव के अनेक नियम अपने गधे की लातें खाकर सीखता है और माली को अपने प्रिय पौधों को सुखा देने की बजाय उनकी जरूरतों का ज्ञान अर्जित करने की आवश्यकता महसूस हुई है। अगर हम सिर्फ अपनी मर्जी के मुताबिक ही शिक्षा देना नहीं चाहते हों तो हमें बाल-विकास से सम्बन्धित अनेकानेक नियमों को जान लेना चाहिए। याने हमें मनोविज्ञान को पढ़ना, जानना, समझना है। पर आज के मनोविज्ञान का अर्थ क्या है? आज के मनोविज्ञानवेत्ता को हम मनोविज्ञानवेत्ता कह सकते हैं या नहीं, जब तक हम इस प्रश्न का उत्तर नहीं देंगे, तब तक आगे बढ़ना हर्गिज व्यवहार्य नहीं है।

मनुष्य के मन के बारे में विचार ही न हुआ हो, ऐसा तो नहीं है। मनोविज्ञान की इतनी सारी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं कि उनके बोझ तले हम दब जाएं। पर इनसे यह बात सिद्ध नहीं होती कि मनोविज्ञान का क्षेत्र अपने आप में पूर्ण है। अथवा हम ऐसा कहने की धृष्टता कर सकते हैं कि सच्चा मनोविज्ञान अभी भावी के गर्भ में है। इसकी आधारशिला नए सिरे से रखनी होगी। वर्तमान मनोविज्ञान को लेकर न्यूनाधिक रूप से कहा जा सकता है कि इसे दिशाभ्रम हो गया है। वस्तुतः दिशाभ्रम से ही जैसे सच्ची दिशा का ज्ञान मिला करता है वैसे ही अतीत के मनोविज्ञान से ही भावी मनोविज्ञान का जन्म होगा। अर्थात् अब तक के अनेक मनोविज्ञानवेत्ताओं के विचारों में से ही एक तरह से कहें तो नया मनोविज्ञान खड़ा हो रहा है। मनोविज्ञानविदों को अपनी आर्ष दृष्टि से या आकस्मिक रीति से या तत्त्व विचारणा से या अपने प्रकीर्ण अनुभवों से जो विचार प्राप्त हुए हैं वे शास्त्रीय विधेय के शास्त्रीय अवलोकन से नहीं जन्मे, नहीं निकले। इसी कारण आज हम जैसे-जैसे मनोविज्ञान का अध्ययन बढ़ाते जा रहे हैं वैसे-वैसे मनोविज्ञान के बाबत हमारा अज्ञान तो प्रकट होता ही है, साथ ही साथ स्वयं मनोविज्ञान

की दीनता भी व्यक्ति होती जाती है। तत्त्ववेत्ताओं ने हमें जो मनोविज्ञान प्रदान किया है वह अधिकांशतः आत्मलक्षी है। अभी थोड़े-से अर्से से ही इस मनोविज्ञान का शिक्षा में उपयोग होने लगा है। वैसे तत्त्वचिंतकों के विचार तो शिक्षा पर काफी अर्से से उचित-अनुचित आक्रमण करते ही आए हैं।

जब तक बाल-हृदय के प्रत्यक्ष अवलोकन के द्वारा बाल-मन के धर्मों का अध्ययन नहीं होगा, तब तक तत्त्व-चिंतकों का मनोविज्ञान मोहक छल-प्रधान शब्दजाल ही बना रहेगा। जब से यह आशंका उठी है तब से पश्चिमी देशों में बालकों के अवलोकन के प्रबंध शुरू हो गए हैं। इसी प्रबंध के परिणामस्वरूप प्रायोगिक मनोविज्ञान जन्मा है। बिने-साइमन-जांच प्रायोगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र का ही प्रदेश है। पर प्रायोगिक मनोविज्ञानवेत्ता रास्ते चलते किसी भी व्यक्ति को प्रयोगशाला में ले जाकर विधेय बना सकते हैं और उसका अवलोकन कर सकते हैं, ऐसा मान लेना उनकी भूल होगी। प्रयोगकर्त्ता इस बात पर बहुत कम गौर करते हैं कि प्रयोगशाला का विधेय कौन है? उसकी सामाजिक या पारिवारिक पृष्ठभूमि क्या है? वे तो बस वहां रखे मापन-उपकरणों से विधेय को कुर्सी में बिठाकर जांचने लग जाते हैं और उनके सहकर्मी जांच की बारीकियां लिखते जाते हैं। विधेय स्वयं तो निष्क्रिय रहता है, या वह सिर्फ वही क्रियाएं करता है, जो प्रयोगकर्त्ता करवाते हैं। प्रयोगशास्त्री की यह अवलोकन-प्रक्रिया दूरबीन से ग्रहों-नक्षत्रों को देखने वाले निश्चल खगोलवेत्ता की, पौधे के पास बैठ कर वनस्पति के वर्धन-क्षय का अवलोकन करने वाले आग्रही वनस्पतिवेत्ता की, या एकाध सूक्ष्मदर्शक यंत्र हाथ में लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों का अवलोकन करने वाले अखंड उद्योगी प्राणीशास्त्री की क्रिया-प्रक्रिया से स्पष्टतः भिन्न प्रकार की है। खगोलवेत्ता, वनस्पतिवेत्ता तथा प्राणिवेत्ता समझते हैं कि अपने विधेय का वास्तविक अध्ययन पूर्ण एवं स्वतंत्र स्थिति में विचरते विधेय के अवलोकन में निहित है। अतएव वे विधेय को अपनी प्रयोगशाला के एक भी नियम के अधीन करने की बजाय स्वयं विधेय के समीप जाते हैं और उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में यथेच्छया रहने देते हैं तथा उसकी जीवन क्रिया का अवलोकन करते हैं। उसमें से प्राप्त निष्कर्षों को सिद्धांत रूप में प्राप्त करते

हैं। परंतु मनोविज्ञान ने तो अभी-अभी शास्त्रीय पद्धति से होकर गुजरने की शुरूआत मात्र की है। चाहे जांच के उपकरण कितने ही सही और सूक्ष्म हैं, पर उनके द्वारा शाला के कृत्रिम वातावरण में फंसे बालक की अगर जांच की जाती है तो उस मापन के परिणाम कृत्रिम ही आएंगे। मनोवैज्ञानिक की वास्तविक कुंजी स्वाभाविक स्थिति में विचरते बालक के अवलोकन में निहित है आज तो शिक्षा के आकाश में इस विचार की उषा का उदय भर हुआ है। बिने-साइमन-जांच इसी कारण से अस्वीकार्य है कि इसके द्वारा प्राप्त आंकड़ों और सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में दंड और पुरस्कार, अस्वाभाविक एवं अधिकांशतया अशास्त्रीय पद्धति, मनमर्जी का पाठ्यक्रम व समय-विभागचक्र विद्यमान है। साथ ही साथ सामाजिक, राष्ट्रीय तथा परंपरागत अच्छे बुरे संस्कारों से उकताए, बंधे, कलुषित बने हृदय का अध्ययन विद्यमान है।

डॉ. मोंटेसरी ने प्रायोगिक मनोविज्ञान के संबंध में एक अंग्रेज इंजीनियर के अभिप्राय को उसी के शब्दों में यूं लिखा है, 'कोई अबोध वनस्पतिशास्त्री वनस्पति को समझने के लिए वृक्ष के तने, डालियों, पत्तों का ऐसा सूक्ष्म अवलोकन करता है कि अपने वर्णन में पेड़ के अलग-अलग नामों का प्रचुर उपयोग करता है, पत्तों और डालियों की गणना करके संख्या दर्ज करने से भी नहीं चूकता, उनके रूप-रंग का यथार्थ वर्णन करने से भी नहीं चूकता और पेड़ से संबंधित ऐसी-ऐसी अनेक जानकारियों को ठूंस-ठांस देता है, पर जिस चीज को उसे जानना है, उससे तो वह नितांत दूर ही दूर रहता है, ठीक वैसे ही प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक अपने विधेय की बारीकी से जांच करता है, खोपड़ी व मेरुदंड की हड्डियों का नाप लेता है, शरीर की ऊंचाई तथा वजन का ब्यौरा लिखता है, पर वह अपने विधेय के हृदय से तो नितांत दूर ही रहता है। जिस प्रकार आकाश के तमाम तारों को गिनने से और वे कहां व कैसे आए, इनके नक्शे बनाने से खगोल विज्ञान निर्मित नहीं होता, उसी प्रकार प्रायोगिक मनोविज्ञानवेत्ताओं के प्रयोगों से (बिने-साइमन के प्रयोगों से) मनोविज्ञान उत्पन्न नहीं होता।' इंजीनियर आगे लिखता है कि 'मैं ऐसे शुष्क प्रयोग करने वालों को धिक्कारता हूं। उन्हें अपने अज्ञान का

अता-पता ही नहीं है। स्वयं मानो प्रकांड पंडित का ढोंग करके, मानो किसी परम सत्य का दर्शन कर चुके हैं, ऐसा दावा करके वे मोटी और शुष्क पुस्तकों की जिल्दों का कब्र जितना ढेर रचते हैं और मनोविज्ञान के शोधार्थियों के मन पर पुस्तकों का बोझा लाद कर उन्हें भी अपने ही जैसा शुष्क व नीरस बनाते हैं।'

वुण्डर नामक मनोवैज्ञानिक से सहमत होकर डॉ. मोंटेसरी मानती है कि अभी बाल मनोविज्ञान का जन्म नहीं हुआ है। प्रेयर तथा बोल्डविन ने जो वैयक्तिक प्रयोग किए हैं वे अपने ही बच्चों पर आजमाए हुए हैं।

उक्त विवरण-विवेचन से हमें थोड़ा-बहुत समझ में आएगा कि अब तक का मनोविज्ञान कैसा है। वास्तविक मनोविज्ञान क्या है, इसका उत्तर तो अभी बाकी है। मनोविज्ञान की परिभाषा देना बहुत कठिन काम है, पर सामान्यत, मनोविज्ञान याने मनुष्य के मन, व्यापारों से संबंधित शास्त्र ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन मनुष्य–याने हर उम्र का, हर तरह का शिक्षित, रास्ते चलता हर कोई व्यक्ति नहीं। बड़ी उम्र के शिक्षित या अनपढ़ व्यक्ति के मनःव्यापारों का अध्ययन करना अत्यन्त कठिन है, लगभग असंभव। कारण यह है कि ऐसे व्यक्ति का मन शिक्षा की वजह से, सामाजिक आचारों से तथा धार्मिक कल्पनाओं से अस्वच्छ बन जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति के मनः व्यापारों के पीछे कैसे-कैसे हेतु होते हैं उनका अनुमान लगा पाना इसलिए कठिन होता है कि संतों को छोड़कर बड़ी उम्र के शेष सभी मनुष्यों में बालकों जैसी सरलता, सादगी, सहजता, निर्दोषता तथा निर्व्याजिता शायद ही कभी देखने को मिलें। ऐसे लोगों के सीधे उद्देश्यों को उनके टेढ़े उद्देश्यों से नितारने का काम दुविधापूर्ण है। और फिर ऐसा व्यक्ति अध्ययन के लिए योग्य है या वह अध्ययनकर्त्ता के हेतु को समझे बिना नही रहता अतः अधिकांशतः हमें दंभ एवं कृत्रिमता को बेध कर उसके मन में प्रवेश करने की जरूरत पड़ती है। पर छोटा बच्चा सामाजिक या नैतिक किसी भी कानून से बेपरवाह होता है। उसका हृदय दर्पण के जैसा निर्मल होता है। उसके उद्देश्य उसकी वाणी से स्पष्टतया व्यक्त होते हैं। शरीर एवं मस्तिष्क की

रचना के अनुरूप उसके शारीरिक एवं मानसिक व्यापार सरल व स्वच्छ होते हैं। फिर अवलोकनकर्त्ता की पकड़ से छिटक कर जाने का उद्देश्य बालक में हो नहीं सकता। अतः बालक मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए योग्यतम विधेय है। यद्यपि बालक पूर्वानुगत संस्कारों, जनता की परम्परा, जन्म-पूर्व संस्कारों तथा ठेठ बाल्यावस्था में पड़े संस्कारों के कारण केवल स्वच्छ दर्पण है, यही नहीं, परन्तु बड़ी आयु के व्यक्ति की तुलना में वह स्वच्छ दर्पण है, ऐसा कथन है। फिर जहां मनुष्य के अध्ययन का विचार है वहां विधेय चाहे कितना ही योग्य क्यों न हो, बालक ही हमें सबसे अधिक पसंदीदा लगता है। ऐसे बाल-हृदय के व्यापारी के शास्त्रीय अवलोकन में से मनोविज्ञान प्रकट होगा। ऐसे शास्त्र को ही मैं मनोविज्ञान कहूंगा। ऐसा मनोविज्ञान तैयार करने के लिए बालकों के अवलोकन का प्रबंध अत्यंत आवश्यक है और जब असंख्य बालकों के अवलोकन का प्रश्न हमारे सामने आएगा तो व्यक्तिगत घरों की बजाय शालाएं ही प्रयोगशालाएं बनाने का उचित स्थान हैं इसमें कोई संशय नहीं। मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए शालाओं को पढ़ाई छोड़कर प्रयोगशाला बनना पड़ेगा। बाल मंदिर पढ़ाने का कारखाना नहीं, अपितु प्रयोगशाला है –ऐसी जो बात लेख के प्रारम्भ में लिखी गई है उसका अर्थ अब स्पष्ट होगा। यहां मैं एक बार फिर से बताना चाहता हूं कि बाल मंदिर का प्राथमिक उद्देश्य बाल मानस का अध्ययन करने के लिए उत्तम प्रयोगशाला की व्यवस्था करना है। इस एक दिशा में ही अगर बाल मंदिर सिर्फ एक कदम आगे रखेगा तो मैं उसका प्रयत्न सार्थक गिनूंगा।

हमने ऊपर पढ़ा कि बाल-मंदिर का उद्देश्य बाल-हृदय की शोध करना है। तत्त्वतः 'शाला बाल-हृदय के अध्ययन की प्रयोगभूमि है।' इस वाक्य में सम्पूर्ण मोंटेसरी पद्धति का समावेश हो जाता है। मोंटेसरी पद्धति की पुस्तकों में जिन-जिन विषयों पर प्रकरण लिखे गए हैं और उन प्रकरणों के अनुसार मोंटेसरी शालाओं में जो काम चल रहा है वही मोंटेसरी पद्धति नहीं है, अपितु वे तो उपरिलिखित तत्त्व के अनुसरण से उत्पन्न होने वाले अनिवार्य परिणाम हैं। हमें परिणामों को मोंटेसरी पद्धति के नाम से पहचानना नहीं है बल्कि हमें तो उनके कारणों में ही मोंटेसरी पद्धति देखनी

है। बेशक यह कार्य-कारण संबंध इतना गुंथा हुआ है कि हम परिणामों को ही कारण मान बैठें तो इसमें क्या आश्चर्य ? हम आज 'मोंटेसरी साहित्य, को मोंटेसरी पद्धति कह बैठते हैं, इसका कारण यही है और वस्तुतः ऐसा करने में इतनी बड़ी भूल करते भी नहीं। कहने का आशय यह है कि अगर मोंटेसरी पद्धति में वर्णित एक-दो बातों की बाल-मन्दिर में अनुकूलता कर दी जाए अथवा अन्य नई बातों को बाल-मन्दिर में अमल में लाया जाए तो उनके कारण बाल-मंदिर को हम यह नहीं कह सकते कि वह मोंटेसरी पद्धति के अनुसार चलता है। क्योंकि जब तक मोंटेसरी पद्धति का यह मूलभूत सिद्धांत, कि 'शाला प्रयोग के लिए है', बाल-मंदिर के शीर्ष पर अचल विराजमान है, और इस सिद्धांत के विपरीत कोई कार्य नहीं किया जाता, या इस सिद्धांत से निकलने वाले अनेक परिणामों में से एक-दो परिणामों का व्यवहार में अमल मुश्किल हो, अथवा इसी सिद्धांत का अनुसरण करके नई अनुकूलताएं खड़ी की जाती हैं, तो ऐसी स्थिति में बाल-मंदिर को मोंटेसरी बाल-मंदिर ही कहा जाएगा। मेरी मान्यता के अनुसार मोंटेसरी पद्धित इसके तत्त्व में विराजमान रहती है। इस तत्त्व को स्वीकार करने के बाद इसके निमित्त देश-कालानुसार चाहे जैसी प्रयोग की योजना बनाई जाए या चाहे जैसे प्रयोग के साधन जुटाए जाएं, भले ही वह योजना तथा परिस्थिति आज की मोंटेसरी शाला की योजना तथा परिस्थिति से भिन्न हो, तथापि वैसी प्रयोगशाला तो मोंटेसरी शाला ही है

गट्टा पेटी में या रंग की तख्तियों में मोंटेसरी पद्धित नहीं है। ड्राइंग या संगीत विषय में भी मोंटेसरी पद्धति नहीं है। मोंटेसरी पद्धति तो स्वतंत्र स्थिति में विचरते बालकों के अवलोकनों से निष्कासित सिद्धांतों में निहित है। यह मानने की भूल हमें नहीं करनी चाहिए कि डॉ. मोंटेसरी ने जिन उपकरणों को प्रस्तावित किया था, उन्हें व्यवहार में न लाने वाली शाला मोंटेसरी शाला नहीं होगी। जिन सिद्धान्तों पर साहित्य रचे गए हैं उनके अनुसार यदि कोई भी नया उपकरण बना लें, तो मोंटेसरी के साधनों में अभिवृद्धि ही होगी। वर्तमान साधनों के विकल्प में अगर कोई भी नया साधन तैयार होता है तो मोंटेसरी पद्धति का कुछ भी नुकसान नहीं होगा या

इसका कोई विरोध नहीं होगा। डॉ. मोंटेसरी ने स्वयं कहा है कि बालकों के संबंध में मैंने जो कुछ कहा है या किया है वह अपने आप में अंतिम या पूर्ण नहीं है। उन्होंने तो इतना सारा काम करके मात्र दिशा ही उघाड़ी है। उनकी सम्पूर्ण पद्धति को थोड़े से सूत्रों में यों समझाया जा सकता है।

1. शाला मनोविकास के अवलोकन की प्रयोगभूमि है।
2. स्वतंत्र बालक का अवलोकन ही वास्तविक अवलोकन है।
3. बाह्य परिस्थिति से व्यक्त होने वाले बालक के मनोव्यापार किसी आंतरिक कारण से व्यक्त होते हैं, अतएव जिन बहिर्-साधनों से आन्तर-स्थिति प्रकट होती है वे आंतर-स्थिति के पोषक हैं। जो-जो साधन आंतर-वृत्ति के पोषक हैं, जो-जो साधन इन्द्रिय विषय, मानसिक या आध्यात्मिक ज्ञान को उद्दीप्त करते हैं वे तमाम साधन वह ज्ञान हासिल करने के स्वाभाविक हथियार हैं, अतः वे प्रबोधक साहित्य हैं।

डॉ. मोंटेसरी ने शिक्षाशास्त्र में अगर कोई योगदान दिया है तो वे यही सिद्धांत हैं। इन सिद्धांतों का अनुसरण करके अगर उपकरण बनाए जाते हैं तो वे साधन अवश्य ही मोंटेसरी साधन हैं, यह मानने में कोई हर्ज नहीं। तथापि दो-एक बातों पर विचार करना जरूरी है। अगर उक्त तीन सिद्धांतों का सम्यक् अनुसरण करके उपकरण बनाये जाते हैं तो मुझे विश्वास है कि वे अधिकांशतया आज जो शिक्षण-उपकरण मोंटेसरी ने उपयोजित किए हैं, वे उनसे भिन्न नहीं हो सकेंगे। कहने का आशय यह है कि रहस्यमय साधन हमें बनाने पड़ेंगे। मैंने अनेक लोगों को बातें करते सुना है कि 'मोंटेसरी पद्धति में देश-काल के अनुसार परिवर्तन होना चाहिए। प्रत्येक देश के मनोविज्ञान के अनुकूल बन कर हमें मोंटेसरी के ही स्तरानुकूल अपने शिक्षण साधनों की योजना बना लेनी चाहिए। इससे हमारा व्यक्तित्व बनेगा और राष्ट्रीय प्राण को क्षति नहीं पहुंचेगी।' ऐसा कहने वाले लोग गट्टा पेटियों के बदले क्रमशः छोटे-छोटे चूल्हों-तपेलियों को आंख की इन्द्रिय के विकास उपकरण के रूप में हमारे समक्ष रखते हैं। गट्टों में ऐसा क्या विदेशी

तत्त्व है और चूल्हों-तपेलियों पर क्या हिन्दुस्तान का ही एकमात्र हक है, यह बात पाठकों के विचारार्थ छोड़कर आगे चलें।

कतिपय मर्यादाओं के साथ मेरी मान्यता है कि मन सार्वभौम है अतएव मनःव्यापार देश-काल से अबाधित होते हैं। मैं भारतीय-मन, अमेरिकी-मन, अफ्रीकी-मन आदि भेद स्वीकार नहीं करता। इन सभी मनों में जो अंतर है वह विकास की भिन्न-भिन्न श्रेणियों का है। कदाच यूं भी कहा जा सकता है कि अफ्रीकी-मन बाल-मन है, पश्चिमी देशों का मन युवा मन है और भारतीय-मन वृद्ध-मन है। यह कथन एक तरह से विनोदपूर्ण कथन है। अगर कदाच मन की सार्वभौमिकता को स्वीकार न करूं तब भी चूल्हे-तपेलियों से जब तक मोंटेसरी पद्धति के सिद्धान्तों को न स्वीकारूं तब तक देशानुकूलता अथवा राष्ट्र प्रेम के वहम से उन्हें मैं गट्टों के स्थान पर कबूल नहीं करूंगा। एक बात सब को बतानी है कि डॉ. मोंटेसरी ने प्रबोधक-साहित्य अपनी स्वेच्छाचारिता से नहीं बनाए थे। ये साधन तो स्वयं बालकों ने अपने आप बनाए हैं। जिस समय बालक अपने साधन ढूंढ रहे थे, उस समय उन्हें जिस अनिवार्य सहायता की आवश्यकता थी वही सहायता मोंटेसरी ने उन्हें उपलब्ध की। साधनों को तो डॉ. मोंटेसरी बालक के अंतःकरण को उनके द्वारा व्यक्त करने की वस्तु मानती है। जब से स्वतंत्र बालक की आत्मा अमुक वस्तु के माध्यम से व्यक्त होती है और उस वस्तु से संबंधित अपने संबंध को बालक अमुक रीति से व्यक्त करता है तब से वह वस्तु अंतर को व्यक्त करने योग्य है, ऐसी डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है। ये सब वस्तुएं मोंटेसरी पद्धति के प्रबोधक साहित्य में हैं।

डॉ. मोंटेसरी ने दिशा-निर्देश किया है कि किसी वस्तु के माध्यम से किस तरह अंतःकरण व्यक्त होता है। यह दिशा-निर्देश ऊपर लिखे गए प्रथम दो सिद्धान्तों के अनुसार दिया गया है। जिस वस्तु पर बालक एकाग्र हो जाता है यही नहीं, परंतु जिस पर वह अपनी एकाग्रता की पराकाष्ठा व्यक्त करता है, वही वस्तु उसके विकास के लिए सही है, यह डॉ. मोंटेसरी की मान्यता है। आगे चलकर वे इन्हीं वस्तुओं को शिक्षण का आधार बनाती हैं। कोई भी उपकरण उसी बालक के लिए योग्य व गुणकारी है

जिसका अंतःकरण इस उपकरण द्वारा मिलने वाले विकास की तलाश करता है। जिस तरह से एकाग्रता अंतःव्यापार को व्यक्त करती है उसी तरह पुनरावर्तन उसी व्यापार की गहनता व्यक्त करता है। कई बालकों को गट्टा-पेटी का आकर्षण रहता है, लेकिन जो बालक इस पेटी का बार-बार उपयोग करता है उस बालक की आंतरिक आवश्यकता के लिए वह अधिक अनुकूल व पोषक होती है, ऐसा समझना चाहिए। हम यह बात समझ लें कि किसी भी वस्तु से संबंधित एकाग्रता तथा उस वस्तु को पुनःपुनः व्यवहार में लाने की वृत्ति–ये दो चीजें मोंटेसरी शाला के प्रबोधक साहित्य का निर्णय करती हैं। फिर चाहे ये उपकरण गट्टे हों या जमीन में खोदे गए गड्ढे, या फिर मिट्टी के बने चूल्हे और तपेलियां हों। उपकरणों के संबंध में यही कहा जा सकता है कि जिस वस्तु में अधिक एकाग्रता जमाने का तथा पुनरार्वतन को उत्तेजित करने का बल है वह वस्तु सर्वश्रेष्ठ है। हम समझ सकते हैं कि डॉ. मोंटेसरी ने एक तरह से जो उपकरण इस वक्तसुझाए थे वही सर्वत्र व्यवहार में लिये जाएं, ऐसा उनका कोई आग्रह नहीं हो सकता। हमें मोंटेसरी के उपकरणों को ही व्यवहार में लाने की जड़ता से मुक्त होने की, स्वतंत्रतापूर्वक इन साधनों पर विचार करने की और साथ ही साथ नए साधन रचने की शक्ति अर्जित करनी जरूरी है। पर मुझे लगता है कि जिन-जिन बातों से संबंधित उपकरण तलाश किये जा चुके हैं, उनसे अधिक सरल, अधिक शिक्षाप्रद और स्वयं भूल सुधार करने वाले उपकरण ढूंढने में बहुत वक्त लगेगा या फिर वह आज के इन उपकरणों का ही स्पष्ट रूपांतरण होगा। मर्म तो उनका वही रहेगा। इस संबंध में तो परीक्षा के बतौर मोंटेसरी के सिद्धांत हमें हमेशा मार्ग दिखाते ही हैं, अतः हम निर्भय हैं।

डॉ. मोंटेसरी शाला को प्रयोगभूमि के रूप में स्वीकार करती हैं। प्रयोगभूमि के बतौर पूरी दुनिया को स्वीकार कर पाने की मुश्किल हम समझ सकते हैं। अतएव प्रयोग के साधन ऐसे होने चाहिए कि जो शाला के वातावरण में सहज उपलब्ध हों और जिन्हें वहां रखा जा सके। इस कारण से डॉ. मोंटेसरी ने जिन साधनों को रचा है वे साधन प्रकृति की जिन-जिन चीजों में

बालक का मन एकाग्र हो जाता है और वे उनके साथ पुनः पुनः खेलने को दौड़ते हैं, उन समस्त वस्तुओं के अर्क-रूप प्रतिनिधि हैं। हमें इतना तो कबूल करना ही पड़ेगा कि सम्पूर्ण प्रकृति में जो-जो बहुविध स्थल बालकों को आकृष्ट करते हैं उन समस्त वस्तुओं के प्रतिनिधि मोंटेसरी पद्धति के वर्तमान उपकरणों में नहीं हो सकते। इस प्रश्न पर गंभीर चिंतन की पुनः आवश्यकता है।

प्रकृति अलग-अलग हिस्सों में बिखरी हुई पड़ी है। इसमें व्यापक कार्य-कारण संबंध ढूंढ पाने का काम बालक के लिए कठिन है। फिर प्रकृति में वस्तुओं का साम्य, वैषम्य एवं क्रम (जिनकी समझ से शिक्षण का काम चलता है) तीनों बालक को एक साथ मिलते नहीं। अतएव प्रकृति में रहने वाली चीजों में बालक तल्लीनता से उत्कृष्टता बताए इसके बजाय अंतःव्यापार के समक्ष कार्य-कारण व्यक्त करने वाले तथा परस्पर साम्य, वैषम्य एवं क्रम बताने वाले उपकरणों पर बालक अधिक एकाग्र हो और उनका अधिक पुनरार्वतन करे, इस स्वाभाविक अनुभव से ही मोंटेसरी के उपकरण बने हैं। प्रकृति हमें अनुभव कराकर ज्ञान देती है। अगर हम गल्ती कर बैठें और अगर उसे सुधारेंगे नहीं तो प्रकृति उसे सुधारने को हमें विवश कर देती है और गल्ती को सुधारने के बाद ही हमें अपने मार्ग पर जाने देती है। यह गल्ती हम स्वयं ही सुधार लें, इसी में हमारी शिक्षा निहित है, ऐसा अनुभव है हमारा। अतएव प्रकृति के प्रतिनिधि स्वरूप साधन अपने आप गलतियां सुधारने तथा स्व-शिक्षण देने वाले होंगे तो बालकों को उनमें तल्लीन होने और उनका पुनरावर्तन करने की आवश्यकता पड़ेगी। मोंटेसरी के उपकरण इन तत्त्वों को पूरा करते हैं इसी से शाला में ये प्रयोग के साधनों के साथ साथ शिक्षण के भी साधन बने हुए हैं। इन तमाम सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अगर हम नए उपकरण बना सकते हैं तथा बालक के अवलोकन के साथ उपकरणों द्वारा उनका प्रत्यक्ष विकास कर सकें तो चाहे जैसे नए उपकरण क्यों न बनाएं, उसमें मोंटेसरी के प्रति वफादारी ही है। बेशक एक बात समझ लेनी है। मोंटेसरी ने बालकों के जिन व्यापारों का अवलोकन किया है, वे व्यापार सम्पूर्ण हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। मन के व्यापार गणित की बड़ी से बड़ी संख्या को लांघ कर उस पार जा

सकते हैं। मोंटेसरी को जितना सत्य नजर आया उतने की ही उन्होंने बात की है। नए सिद्धांतों का दर्शन करने का मार्ग खुला है।

इन्द्रिय विकास में स्वाद व घ्राण संबंधी प्रयोग शेष हैं। खगोल, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि विषयों के प्रति बालकों के स्वाभाविक व्यापार कैसे हो सकते हैं, ये अवलोकन अभी अधूरे हैं। अगर हम इन नई दिशाओं में प्रयोग कर सकें और सिद्धांतों के अनुसार नए साधन बना सकें तो वे आद्य-प्रणेता डॉ. मोंटेसरी को भेंट में दिये जा सकेंगे।

बाल-मंदिर अगर प्रयोग के लिए ही है, ऐसा मानें तो वह उक्त अर्थ में मोंटेसोरियन ही हो सकता है, यह मंदिर इटालियन, अमेरिकन या इंग्लिश होना जरूरी नहीं। इटली के बालक विद्यालय में बूट पहने-पहने खाना खाते हैं, इसमें मोंटेसरी पद्धति को कोई लेना-देना नहीं। इटली के बालक अपने स्वाभाविक आहार मेंढ़कों को पत्थरों से मारने में मज़ा लेते हैं, वही व्यापार भारत में पतिंगों को निर्दोष भाव से पकड़ कर उड़ाने में परिणत होता है तभी तो मोंटेसरी पद्धति के रहस्य का कोई अर्थ है। मेंढ़क खाने वाले इटली के बालक मेंढ़कों को मारें, और अहिंसक व दया-वृत्तिप्रधान भारत के बालक पतिंगों को पकड़ कर उनके रंगों के मजे लें और छोड़ दें तो इन दोनों क्रियाओं में मोंटेसरी की दृष्टि से बाल मानस के ही दर्शन होते हैं। फर्क सिर्फ देश-काल-वातावरण का ही है। परिस्थिति के फर्क के कारण देश-काल, जो सार्वभौम मानस को मर्यादित करते हैं वे किसी भांति का विसंवाद खड़ा नहीं करते। हम देखेंगे की बाल-मंदिर मोंटेसोरियन बना रह सकता है, भले ही इटली, अमेरिका या यूरोप की शाला से उसका रूप, रंग-ढंग व उपकरण भिन्न ही क्यों न हों!

मोंटेसोरियन बाल-मंदिर एक म्यान में दो तलवारें नहीं रख सकेंगे। ये दो तलवारें हैं प्रयोग करने और पढ़ाने की। अच्छी-अच्छी पद्धतियों का मिश्रण करके बाल-मंदिर को आदर्श रूप देने का अर्थ है उस प्रयोगभूमि को अधिक शास्त्रीय बनाना, अवलोकन के तरीकों को अधिक विश्वसनीय व

निर्मल बनाना, प्रकृति को उत्तम रीति से प्रातिनिधिक बनाना और सम्पूर्ण परिस्थिति को कार्य-कारण की उच्च शृंखला से जोड़े रखना। साथ ही त्रुटि को अपने आप सुधारने व स्वशिक्षण का प्रबंध किया जाए, अगर ऐसा हो तो डॉ. मोंटेसरी को उस बाल-मंदिर से कोई विरोध हो भी नहीं सकता, हर्गिज नहीं। लेकिन अगर अध्यापक वैज्ञानिक के बजाय महज 'मास्टरजी' बन कर बैठ जाए, अवलोकन करना छोड़कर सिर्फ पढ़ाने लग जाए, मौन छोड़कर भाषण देने लग जाए तो हर्गिज नहीं चलेगा। उक्त दृष्टि से बाल-मंदिर की प्रगति निस्सीम है और यह निस्सीम प्रगति-मानव-जीवन का अनवधि विकास ही बाल-मंदिर का उद्देश्य है, और यही हो सकता है। □

चतुर्थ खंड

बालगृह

बहुत छोटा बच्चा अपने शारीरिक पोषण के लिए माँ का दूध चूंघता है। उस वय में चूंघना ही उसका वास्तविक पौष्टिक आहार होता है। उसके दांत आने की वजह से और अभी उसका पेट बड़ी आयु के आदमी की खुराक पचाने योग्य न होने की वजह से मां के दूध के सिवा अन्य आहार उसे माफिक नहीं पड़ता, बल्कि भारी पड़ता है और शरीर को नुकसान पहुंचाता है।

छोटे बच्चे का शरीर जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके शरीर को अधिक पौष्टिक आहार की जरूरत पड़ने लगती है। उसके दांत आने लगते हैं, शरीर अधिक कसरतें करता है, खुराक पचाने की ताकत बढ़ जाती है और उसे मां का दूध कम पड़ने लगता है, अतः स्वतः चूंघना छोड़कर वह अन्य खुराक की ओर मुड़ता है। लाडला बालक कदाचित उस वक्त भी चूंघना नहीं छोड़ता तो समझदार मां-बाप उसे जबरन छुड़ा देते हैं। क्योंकि अब चूंघने से पोषण न मिलने के कारण नुकसान ही होगा, ऐसा हम जानते हैं। संक्षेप में, शरीर की वृद्धि के साथ बालक को अपने आहार की छोटी व एकदेशीय मर्यादा तोड़कर विविधता तथा विशालता में आना पड़ता है।

छोटा बच्चा स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा मां की गरम और नरम ऊष्मा को पहचानता है। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही वह मां का दूध व दुलार प्राप्त करता है। देखना शुरू होते ही सबसे पहले वह मां को पहचानता है, फिर धीरे-धीरे घर के अन्य पदार्थों को, लोगों को और ऐसा करते-करते पदार्थों व लोगों की पहचान का क्षेत्र बढ़ता जाता है। यही बात अन्य इन्द्रिय-व्यापार के साथ होती है। जैसे-जैसे इन्द्रियों की अपनी शक्ति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वे स्वतः अपनी प्रवृत्ति को बढ़ाती जाती हैं और इस तरह उनका कार्य-क्षेत्र विशाल बनता जाता है। इन्द्रिय-विकास के कारण यूं बालक का कार्य-क्षेत्र दिन-प्रतिदिन विशाल बनता जाता है, शक्ति की वृद्धि के साथ यह विस्तार स्वाभाविक तथा अनिवार्य है।

बालक के बढ़ते हुए शरीर के साथ भी यही बात लागू होती है। जन्म लेने के तत्काल बाद के दिनों में बालक विश्रांति में पड़ा-पड़ा अपने शरीर के स्नायुओं को विकास की क्रिया के लिए तैयार करता है। कुछ बाद में वह पलने में या पलंग में लेटे-लेटे हाथ-पैर हिला कर शरीर का स्नायु-विकास साधता है। शरीर के स्वाभाविक विकास के साथ वह औंधा होता है, घुटनों के बल चलता है। पलने में ही हाथ-पैर हिला कर शरीर की कसरत करने वाला बालक अब पूरे घर में हलचल मचा देता है, उसका क्षेत्र व्यापक बन जाता है और चलना आने पर घर, दहलीज, बरामदे और मौहल्ले में भी वह घूम आता है।

बहुत छुटपन में बालक का शरीर जिस तरह मां के दूध से पुष्ट होता है, उसी तरह उस वक्त उसका हृदय भी मां के हृदय से बुद्धि, प्रेम आदि मनःशक्तियों से पुष्ट होता है, निर्मित होता है। यह पोषण भी देखते-देखते कम पड़ जाता है, अतः बालक देखते-देखते पिता के हृदय का, और साथ ही साथ धीमे-धीमे भाई-बंधुओं आदि घर के सदस्यों के हृदय का परिचय प्राप्त करता है तथा अपनी बहुविध मानसिक शक्तियों का विकास करता है। जैसे-जैसे उसकी बुद्धि विकसित होती जाती है वैसे-वैसे वह घर के समस्त बौद्धिक क्षेत्रों को अपनाता हुआ आगे बढ़ता है।

भाषा के ज्ञान में भी यही बात होती है। 'मां', 'पिता' और 'भू' के क्षेत्र को थोड़े ही समय में लांघ कर वह भाई-बंधुओं और घर के सदस्यों की विशाल भाषा की तरफ जाता है। दूसरों को समझने की तथा स्वयं को व्यक्त करने की उसकी आंतरिक आवश्यकता उसे इस तरफ धकेल देती है। बालक एक सीढ़ी से दूसरी और दूसरी से तीसरी सीढ़ी यूं क्रमशः स्वयं से बेखबर-सा ऊपर से ऊपर चढ़ता जाता है। उसे श्रम तक महसूस नहीं होता।

इस तरह बालक को शरीर, मन आदि की वर्द्धमान जरूरतों के प्रमाण में विकास के साधनों की तथा क्षेत्र की विशालता की जरूरत पड़ती है। विकास की भूख अंदर से आनी चाहिए। प्रचलित उपकरणों का चुनाव विकास करने वाले बालक को ही आवश्यकता के अनुरूप करना है। पर हमें

उसके लिए उपकरणों के चयन का तथा क्रिया का क्षेत्र बढ़ाते जाना चाहिए। इस क्षेत्र को यथा-काल तथा यथा-मर्याद बढ़ाते जाने की जानकारी में शिक्षा की सच्ची क्रिया विद्यमान रहती है।

विकासमान बालक को अमुक उम्र में जिस तरह से मां की खुराक कम पड़ी, बौद्धिक वातावरण की विशालता बढ़ानी पड़ी, पालने से मौहल्ले तक पहुंचना पड़ा, वैसे ही जब बालक ढाई से तीन वर्ष का हो जाए, तब उसे अब तक की विशालता के उस पार जाने की जरूरत पड़ती है। उसकी वर्द्धमान शारीरिक-मानसिक शक्तियां व्यायाम तथा वृद्धि के लिए विशाल क्षेत्र तलाश करती हैं।

इस समय बालक को जिस तरह से गमले में बढ़कर बड़े हुए पौधे को बड़े क्यारे की जरूरत पड़ती है, उसी तरह खूब दौड़ने, उछलने-कूदने की, टेकड़ों पर चढ़ने-रपटने आदि की उन तमाम क्रियाओं की जरूरत पड़ती है, जो बड़े शरीर की कसरत के लिए उपयोगी हैं। उसके लिए बालक को घर छोटा लगता है। वह बाहर गली में भाग जाता है। गाड़ी-घोड़ों का भय उसके ध्यान से बाहर होता है। मां-बाप को उसकी चिंता होते ही उसे बाहर जाने के लिए मना करने की जरूरत पड़ती है। बालक कई बार नजर चुरा कर खेलने या भटकने को भाग जाता है। मां-बाप और बालक के बीच खींचतान चलने पर आखिर बालक गली में रहने योग्य बन जाता है।

इसी तरह से बालक की सामाजिक जीवन की भूख बढ़ने से वह मित्र बनाना शुरू करता है। अभी तक घर में उसे तृप्ति थी, भाई-बन्धुओं की मैत्री या सहवास उसके लिए बहुत काफी थे। अब वह गली के साथियों को ढूंढ़ता है। उनके साथ भागने-दौड़ने निकलता है। गली में या घर के इधर-उधर वह सामाजिक सहयोग साधने के लिए घरौंदे बनाने के या ऐसे ही अन्य खेल खेलता है।

इस उम्र में उसकी इन्द्रियां अधिक मोटे व्यापारों, विशाल परिचयों तथा अनुभवों को हासिल करने के लिए अधीर होती हैं। आसपास के पेड़-पौधे, टेकड़ी, गड्ढ़े, पहाड़, पहाड़ियां, जमीन, खेत, पक्षी, पशु आदि मानो

उसकी इन्द्रियों को बुलाते हैं तथा सघन परिचय का आह्वान करते हैं। घर के तमाम पदार्थ बालक देख चुका है। उनके गुण-धर्म उसकी कल्पना में आ गए हैं। अब बालक घर-बाहर तक जो कुछ अजाना और आकर्षक पड़ा है, उसे देखना चाहता है कि वह कैसा है। इस तरह इन्द्रिय-विकास के लिए भी बालक घर से बाहर निकलने को उत्सुक हो जाता है तथा अनेक इन्द्रियगम्य समृद्ध अनुभवों में वृद्धि करने व जीवन को आनंद से भरने का इच्छुक हो जाता है।

'यह क्या है ?' 'यह क्या है ?' इस तरह पूछ-पूछ कर तथा सबों को बोलते सुनकर बालक घर की मर्यादा में रहते हुए भाषा का जितना भी परिचय साध सकता है, उतना साध लेता है, तथापि घर से बाहर की दुनिया को, घर से बाहर चलने वाले व्यापारों को, भिन्न-भिन्न प्रसंगों को, भिन्न-भिन्न दृश्यों संबंधी तथा भिन्न-भिन्न परिस्थिति में प्रयुक्तभाषा को जानना अभी शेष है। जब बालक भाषा-ज्ञान की एक सीमा को लांघ कर खड़ा हो जाता है तो उसे आगे बढ़ना ही है, क्योंकि उसी में उसका विकास निहित है।

घर में रहते-रहते जो ज्ञान उपलब्ध है उसे वह रात-दिन इन्द्रियों तथा बुद्धि की प्रत्यक्ष-परोक्ष सहायता से तथा स्व-प्रयत्न से ले लेता है। अभी उसकी जिज्ञासा तृप्त नहीं हुई। ज्ञान के अनेक प्रदेश अभी अनछुए ही पड़े हैं। बालक एक ऐसी प्रवृत्ति मांग रहा है जो उसकी बुद्धि को कसरत देती है और उसे बढ़ाती है। बालक माता-पिता के साथ बाजार में या गांव के बाहर निकलता है तो भूखे भेड़िये की तरह ज्ञान के अनेक विषयों के बारे में स्वतः जानकारी प्राप्त करता दिखता है। साथ ही हमें पूछ-पूछ कर परेशान करता नजर आता है। ज्ञान की भूख एकाएक तृप्त होने के कारण उसमें भूख का तनाव आ जाता है और उस वक्त नए ज्ञान की खुशी में या उसके दबाव में वह देर रात तक सोता नहीं। घर में उसे बिल्ली, कुत्ते, चिड़िया, मैना आदि के बारे में थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है, पर अन्य पशु-पक्षियों की आदतों, खुराक आदि के बारे में जानने की उसकी आतुरता कम नहीं होती। बालक का बराबर अवलोकन करने वाले व्यक्ति को यह बात ध्यान में रखने की है।

अब घर का वातावरण उसके लिए अधिक पोषक नहीं रह जाता। घर की दीवारें उसके लिए अब पिंजरे जैसी बन जाती हैं। घर की ज्ञान-समृद्धि का तल उसने देख लिया है। यह सब बालक की दृष्टि से है। पर घर में अभी बहुत कुछ पड़ा है—पुस्तकालय है, भाषा का, सामाजिक आचार का, बौद्धिक व्यापार का, नीति आदि का वातावरण है। लेकिन ये सब उस समय बालक के लिए पर्याप्त ऊंची चीजें हैं। अतः उस समय बालक के लिए घर बहुत छोटा बन जाता है। विकास के क्रम में बालक माता के प्रेम का, पिता की बुद्धि का,परिवार के सामाजिक जीवन का, शरीर एवं इन्द्रिय व्यापार का विस्तार मांगता है। सारांश यह कि बालक अब विशाल घर मांगता है।

इस समय उसे एक परिस्थिति में से दूसरी में जाना है, यह संक्रांति-काल है। जिस प्रकार काच के बर्तन में पल कर बड़ी बनी मछली एकाएक विशाल समुद्र में जी नहीं सकती, बल्कि उल्टे महासागर की विशाल लहरों से टकरा कर अथवा विराटकाय मगरमच्छों के मुंह में आसानी से आकर मर सकती है, उसी प्रकार बालक को अगर घर से बाहर की दुनिया में एकाएक फेंक देंगे तो वह विकसित होने की बजाय कुम्हला जाएगा। उसे भयंकर नुकसान उठाना पड़ेगा। विकास का काम धीमा और क्रमिक होता है। चूंघने वाला बालक आज चूंघना छोड़कर कल रोटियां खाने लगेगा तो बीमार ही पड़ेगा। पर धीरे-धीरे उसे एक तरफ रोटी न खिलाकर मां के दूध जैसा नरम स्वादिष्ट पदार्थ खाने के योग्य बनाकर दूसरी तरफ चूंघना कम करते-करते उसे चूंघना छुड़ा कर खाने की ओर लगा दिया जाता है। बालक को उसी दिशा में जाने की जरूरत है। उसी में उसका विकास है। यह प्राकृतिक नियम है। नन्हा-सा जीव अपने अनुकूल शंख को ढूंढ़ कर उसमें विकास करने लगता है, और वहां बैठे-बैठे अपना विकास करता है। जब वह मोटा हो जाता है और शंख उसे छोटा लगने लगता है तो छोटे वाले शंख को फेंक कर वह बड़े शंख की तलाश कर लेता है। इस प्रकार जहां तक विकास की प्रक्रिया चलती है वहां तक बढ़ती हुई जरूरतों के मुताबिक योग्य परिस्थिति को ढूंढ़ लेना प्राणि-मात्र की सहज स्वाभाविक प्रकृति है। इस

प्रकृति का विरोध होने पर प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। प्राणी अगर वहीं का वहीं रहता है या बढ़ता नहीं तो क्षीणकाय होकर आखिर मृतप्राय हो जाता है या मर जाता है।

अतएव जब बालक का घर में यथासंभव विकास हो जाए तब हमें उसके लिए उससे बड़े घर में रहने का प्रबंध कर देना चाहिए। 'बड़ा घर'–ऐसा शब्द प्रयोग यथार्थ लगता है। बालक के लिए विशाल व्यायाम शाला, विज्ञान शाला, अवलोकन शाला या भोजन शालाएं बनाई जाएं ऐसा कहने की अपेक्षा 'विशाल गृह' बनाने की बात इसी कारण से उचित है कि बालक शरीर, मन तथा हृदय का विकास जिस तरह घर में मां-बाप के प्रेम के बीच, उनकी सार-संभाल के बीच, भाई-बन्धुओं के सहयोग के बीच, यथासंभव व्यवस्था एवं जीवंत परिचय में और गृहस्थाश्रम के नीतिमय वातावरण में रह कर साधता आया है उसी तरह, उसी ढंग से विशाल गृह में भी हमें सावधानी बरतने की आवश्यकता है। इस उम्र में उसका एक पैर दूध में और दूसरा दही में। ऐसी स्थिति में होने के कारण वह एकाएक माता-पिता से घर का संबंध महज तोड़ कर आगे नहीं बढ़ सकता। वह एकाएक घर से बड़ी शाला में या छात्रावास में छलांग नहीं मार सकता। ऐसी छलांग नुकसानकारी है। इस उम्र में बालक माता-पित की उंगली से छूट भागने को तैयार रहता है, परन्तु जिस तरह दूर बैठे-बैठे भी कमल को सूर्य की पोषक ऊष्मा की आवश्यकता पड़ती है, उसी तरह अभी बालक को घर की पोषक ऊष्मा की जरूरत है। एक खास वातावरण से किसी नए वातावरण में कूद पड़ना बड़ों के लिए भी आसान नहीं होता तो बालक के लिए तो बहुत ही मुश्किल है। याने बालक को संवर्धक विशाल घर की जरूरत है और उसी के साथ संरक्षक मर्यादा की भी जरूरत है।

ऐसा संवर्धक संरक्षक घर बालक को गली में मिलेगा या सरहद में, सो देखने की बात है। गली में बालक को शरीर आदि हिलाने डुलाने की अधिक आजादी रहती है, उसकी सहकार-वृत्ति को पोषण मिलता है, तथा ज्ञान की भूख तृप्त करने की भी थोड़ी बहुत सामग्री मिलती है। पर गली,

घर-घर से इकट्ठे हुए बालकों की निजी-प्रवृत्ति करने का स्थान होता है। गली की प्रवृत्तियां किसी चिंतातुर पिता की देखरेख में नहीं होती, वहां मां की प्रेरक तथा अधिकांशतःसही रास्ते पर ले जाने वाले प्रेम की दृष्टि नहीं होती, वहां अच्छे घर की व्यवस्था तथा विधि-निषेधों के योग्य नियम नहीं होते। लेकिन वहां भिन्न-भिन्न संस्कारों की खिचड़ी होती है। उनमें अच्छे संस्कार कौनसे और बुरे कौनसे, किन्हें योग्य मानें और किन्हें त्याज्य, इसका निर्णय करने वाला भी कोई नहीं होता। वहां बालक एकाएक बहुरंगी विचित्र वातावरण में आ पड़ता है और क्या लेना चाहिए, क्या नहीं लेना चाहिए, ऐसी मर्यादित घर की सहायता के बिना भूख ही भूख में बहुत-सा निरर्थक ग्रहण कर लेता है। इससे उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है, वह मन व शरीर से बीमार पड़ जाता है, और ठिकाने आने से पहले बहुत-कुछ सहन करता है। गली एक प्रकार का वातावरण है, उसमें पोषक और विघातक दोनों तरह के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। विघातक तत्त्वों को दूर हटा कर तथा पोषक तत्त्वों को ग्रहण करके उनमें से चुनाव करने की बालक को किसी ने अनुकूलता दी नहीं। पोषक तत्त्वों को चुनकर उन्हें अपनाने में ही बालक का विकास है। घर से निकल कर बाहर आने वाले बालक के लिए वह उचित विशाल-घर नहीं है।

परस्पर गालियां देना, मारा-मारी करना, झगड़ा करना, ऐसी गंदी व भद्दी हरकतें करना कि जिनका मां-बाप को पता न चले, होड़ा-होड़ी बीड़ियां पीना, ये सब बातें बालक गली में झटपट पकड़ लेता है। इस उम्र में बालक ज्ञान-पिपासु होता है, नए-नए बालकों की उस पर छाप पड़ती है, अभी उसका सम्पूर्ण व स्वतंत्र व्यक्तित्व विकसित नहीं हुआ होता। इस कारण वह अच्छे-बुरे का विचार करके स्वतंत्र रहने की बजाय अनुकरण का शिकार बन जाता है। अनेक बार संस्कारी बालक खराब वातावरण से दूर खड़ा रहने का प्रयत्न करता है, खराब बात व क्रिया से अरुचि बताता है, पर साथ-साथ खेलने आदि कि वृत्ति के कारण वह अकेला नहीं रह सकता और वह भी औरों जैसा ही बन जाता है, या उसे बनना पड़ जाता है। कई बार ऊपर से अच्छे दिखने वाले बालक जो करते हैं सो अच्छा ही होगा, यह मान कर

दूसरे बालक भी वैसा ही करना सीख जाते हैं। कितने ही घरों के बिगड़े हुए बच्चे दूसरों को भी अपनी बुरी आदतों का भागीदार बना देते हैं। फिर खेल ही खेल में बालक एक दूसरे की अच्छाई-बुराई को बड़ी ही त्वरा से ग्रहण कर लेते हैं। खेल उनकी प्रिय तथा जरूरी प्रवृत्ति होने के कारण उसके साथ जुड़ी बुरी बातें भी उनमें आ जाती हैं।

जब से बालक गली का परिचय पाने लगता है तब से उसमें कुछ और ही भांत की बुराइयां आने लग जाती हैं। उसकी भाषा बिगड़ने लगती है, वह जल्दी-जल्दी अधूरा बोलता है। गंदा रहने की, नाक में उंगलियां डालने की, बहती नाक हाथ पर पोंछ लेने आदि की तरह-तरह की आदतें अच्छे घरों के बालकों में भी गली के अन्य गंदे बालकों के सहवास से आ जाती हैं। ऐसे में अच्छे घरों के लोग अपने बालकों को गली में खेलने देने से मना करते है। गली की छाप बालकों के बोलने-चलने पर भी साफ देखी जा सकती है। गली से घर में आने वाले बालक में बेअदबी से जवाब देने तथा अविश्वसनीयता से चलने के दुर्गुण देखने में आते हैं। विवेक सम्पन्न माता-पिता को थोड़े ही अर्से में पता लग जाता है कि अनेक बार झूठ बोलने के, और पहले जो बातें वह बेधड़क बोला करता था, उन्हें छिपाने के प्रथम पाठ बालक गली से ही कामयाबी के साथ ग्रहण करता है।

यह तो हुई बालकों पर गली के पड़ते संस्कारों की बात। जैसा कि ऊपर हमने देखा है कि बालक इस उम्र में शरीर व मन से आगे बढ़ना चाहता है। इसके लिए जैसा व्यवस्थित वातावरण चाहिए वह गली में कहां! शरीर-विकास के लिए वांछित व्यायाम की व्यवस्था गली में कहां से होगी ? इन्द्रिय-विकास के लिए इन्द्रियों की शुद्धि और तीव्रता के साधन तथा विकसित इन्द्रियों की शक्ति को प्रकट करने वाली परिस्थिति भी गली में नहीं है। बुद्धि के व्यापार भी बालक गली में भटकने से कैसे साध सकता है ? गली में ऐसा कौन है जो बालक की जिज्ञासा को पहचाने और उसे पोषक वातावरण दे ? जैसा कि ऊपर देखा, गली चरित्र-निर्माण का भयंकर स्थान है।

बालक विशाल घर मांगता है। उसका अपना घर छोटा पड़ने लगता है। गली उसके विकास के लिए निरर्थक है। बालक से घर में बैठा नहीं

जाता। वह गली को ढूंढता है। गली में वह बिगड़ता है। सही विकास की स्थितियां न मिलने से वहां वह अतृप्त और असंतुष्ट रहता है। पहले बालक घर में सब को आनंदित करता था, अब परेशान करता है। वह घर से गली में जाने को विवश हो जाता है। वह गली में आता है, जहां वही के वही खेल उसके शरीर व मन को थका डालते हैं। इस वक्त में बालक आगे नहीं बढ़ता, प्रतिकूल खुराक से जितना बिगड़ता है उतना बिगड़ता है, और फिर पड़ा-पड़ा सड़ता है तथा उसके जीवन के मूल्यवान समय का अपव्यय होता है। इस तरह से बालकों के ढाई से छः वर्ष तक का समय बहुत मुश्किल में बीतता है। घर की उसकी प्रवृत्तियां समाप्त हो चुकीं। अगर वह नई प्रवृत्तियों को ढूंढ़ने बैठता है तो माता-पिता को वे रोजमर्रा वाली न होने के कारण बाधक प्रतीत होती हैं और बेचारे बालक को बिना प्रवृत्ति के निठल्ले बैठना पड़ता है। इससे होता यह है कि शरीर तथा मन की प्रवृत्तियों का वेग कम पड़ जाता है। कदाच स्थल बदलने से या घर में नए काम निकलने से बालक को थोड़ी नवीनता मिले तो मिले, लेकिन वह भी बहुत कम समय के लिए और अव्यवस्थित रीति से। गली के झगड़े बालक घर ले कर आता है, इससे मां परेशान होती है। आज के व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को बिगाड़ डालने जैसी प्रवृत्ति में पड़े पिता की इच्छा होने पर भी उसे इतनी फुर्सत नहीं होती कि अपने बच्चे की तरफ आंख उठाकर देख भी ले। परिणामः यह प्रतीक्षा रहती है कि कब बालक पांच-छह वर्ष का हो और कब शाला जाने लगे।

जाहिर है हमारी इन वर्तमान शालाओं में बालक पांच-छह वर्ष की उम्र होने पर ही जाने लगते हैं। भले ही उन्हें अच्छा कहें या बुरा, पर वहां बालक को एक तरह की विशालता अवश्य मिलती है और अल्प मात्रा में ही सही पर वहां घर में न टिक पाने वाले बालकों को अपने प्रश्नों का समाधान मिलता है।

लेकिन ढाई से छह वर्ष की आयु के बालक के विकास का प्रश्न अन-सुलझा रह जाता है। आयु का यह काल उसके विकास की दृष्टि से बड़े महत्व का माना जाता है। बालक की अस्थियों व स्नायुओं की सुदृढ़ता,

इन्द्रियों के शुद्ध, तीव्र, संस्कारी बनने का, बौद्धिक-शक्ति, क्रिया-शक्ति, कल्पना-शक्ति आदि मनःस्थितियों के निर्मल, बलवान व सूक्ष्म बनने का; तथा कोमल एवं जटिल भावनाओं के विकास का वास्तविक समय यही है। सात वर्ष की आयु तक बालक अपने शरीर एवं मन का जितना विकास कर लेता है, उतना बाद के पूरे जीवन में नहीं कर सकता।

जीवन पर्यन्त स्थायी बनी रहने वाली बालक की अच्छी-बुरी आदतें इसी काल में बनती हैं। उसमें विवेक-अविवेक, संस्कारिता-पाशविकता, सामाजिक जीवन के अन्य गुणावगुण इसी काल में जितने आ गए सो आ गए, और नहीं आये सो नहीं आए। नीति-मय स्वभाव एवं धार्मिक भावना (स्फुट-अस्फुट) की जड़ें भी उसमें इसी काल में रुपती हैं। संक्षेप में कहा जाए तो मानव जीवन के विकास में यही समय सर्वाधिक महत्व का है। अतः बालक के विकास की उतनी ही अधिक देखरेख व संभाल लेनी जरूरी है, अन्यथा विकास के ऐसे वास्तविक समय में भी बालक घर का न घाट का बन जाता है। उसके जीवन का यह काल बेकार चला जाता है तो फिर बाद में भले ही वह चाहे जितना पढ़े-गुने, पर एक बार जो क्षति हो जाती है, उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती।

इस काल के बाद का समय शक्तियों को व्यवहार में लाने का, उन्हें बढ़ाने का, बलवान करने का है, पर उन्हें हस्तगत करने व संस्कारित करने का काल तो सात वर्ष तक का ही होता है।

जिस तरह से शारीरिक विकास एक निश्चित समय में ही होता है, उसके निकल जाने पर फिर कोई उपाय शेष रहता नहीं, उसी तरह से मानसिक शक्तियों के विकास के साथ होता है। विकास का उचित वक्त हाथ से निकल जाने पर वापिस लौटता नहीं।

अब तक तो बालक के हिलने-डुलने से उसके शरीर का व्यायाम हो जाया करता था, लेकिन अब उसके विकसित शरीर के लिए सुव्यवस्थित व्यायाम की जरूरत पड़ती है। बालक स्वतः हमें घर या बाहर अपने लिए जरूरी व्यायाम तलाशता नजर आएगा। पालने पर, चारपाई के पाये पर, या

रस्सी पर वह हमें लटका दिखाई देगा। ज़ीने पर चढ़ता और धीमे-धीमे सीढ़ियां चढ़ते छलांग लगाता, एक पैर से चलता, दोनों पैरों से उछलता, झूलने की उमंग व्यक्त करता, गड्ढे खोदता, घरोंदे बनाता, फिसलता-इस तरह अनेक हरकतें करता दिखाई देगा। याने वह पहले से ज्यादा और व्यवस्थित व्यायाम की मांग करेगा।

इस समय तक बालक की इन्द्रियों को अपने आसपास की दुनिया से अनेक प्रकार का अनुभव हो चुकता है। वह कोयल और कौवे की, गाय और भैंस की आवाजें पहचानने लगता है, उनके बीच का अन्तर भी जान जाता है। अपने घर के बर्तनों और सदस्यों को वह उनकी आवाज से पहचान जाता है। नजरों से देखकर वह अनेक चीजों को पहचान जाता है, तो अनेक को चख कर, छूकर तथा सूंघकर पहचान जाता है।

अब बालक की इन्द्रियां ऐसी शिक्षा-व्यवस्था मांगने लगती हैं कि अपने अनुभवों को वह तीव्रता एवं सूक्ष्मता से तत्काल व्यक्त कर सके और उन्हें व्यापक रूप में सर्वत्र देख सके। बालक परस्पर भिन्न दो बड़े वजनों को देखते ही पहचान लेता है कि छोटा वजन कौनसा है ! बड़े-छोटे वजन का फर्क सिखाये बिना ही देखने के साथ उसके खयाल में यह बात आ जाती है। दो मोटी-महीन आवाजों का फर्क उसके कान स्वभावतः ग्रहण कर लेते हैं। लेकिन अनेक रंगों को एक-दूसरे से अलग करने की, या एक ही रंग की छायाओं को अलग करने की, तथा एक ही रंग की छायाओं को पहचानने के लिए योजना आवश्यक है। इसी तरह से दो स्वरों के बीच का अंतर और उनके बीच पारस्परिक संबंध को परख पाने– उदाहरण के लिए सप्तक के स्वरों को पहचाने तथा उन्हें क्रमिक रूप से संजोने आदि के काम के लिए, कि जिनमें इन्द्रियां अत्यंत सूक्ष्मता से अपना व्यापार कर सकें, योजना आवश्यक है।

और फिर अभी तलक बालक को जो इन्द्रियगम्य तथा मनोगम्य अनुभव प्राप्त होते हैं वे सब एक ही थैले में फेरीवाले के सामान की भांति अव्यवस्थित पड़े होते हैं। अब उन अनुभवों को अपने निश्चत स्थान पर

सजा कर रखने की तथा नए अनुभवों को अपने सही स्थान पर संजोने की शक्ति विकसित करने का समय आया है। यह शक्ति है वर्गीकरण करने की। वर्गीकरण करने में समानता, विषमता तथा क्रमबद्धता के ज्ञान की तथा तुलना, निर्णय व निश्चय कर पाने की शक्ति की जरूरत पड़ती है। अपने तमाम अनुभवों को पकड़ने की, व्यवस्थित रूप से सजाने की, तथा पारस्परिक संबंध साधने की शक्ति विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण शक्ति है। यह आधारभूत शक्ति है। इसी पर ज्ञान की उच्च इमारत निर्मित हो सकेगी। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों तथा शोधकर्त्ताओं की खोजों का रहस्य इसी शक्ति में है। इसे हम बौद्धिक-शक्ति के नाम से जानते हैं।

जिस बालक को प्रति क्षण अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं, बल्कि जिसे ढाई वर्ष की उम्र में अनेक समृद्ध अनुभव प्राप्त हो चुके हैं उसे यह बौद्धिक-शक्ति हासिल हो जाने पर अपार आनंद मिलता है। बुद्धि का एक नया लोक उसके सामने खड़ा हो जाता है। उसकी प्रवृत्ति विशाल बन जाती है और प्रवृत्त रहने की वजह से उसका मन व शरीर निरोग रहता है, और सबसे बढ़कर जो मूल्यवान जीवन का निर्दोष आनंद है, वह बालक को प्राप्त होता है। और जब बालक में समानता आदि शक्तियां आ जाती हैं तो वह पक्षियों संबंधी गुणधर्मों के अनुभवों को पशुओं संबंधी गुणधर्मों के अनुभवों से अलग करके पशु तथा पक्षी वर्ग को अलग समझने लग जाता है और पृथकता के कारणों को भी जान जाता है। इसी प्रकार वह पदार्थ मात्र को कार्य-कारण की शृंखला से बांधने, संजोने लगता है। यह मार्ग वैज्ञानिक शोध का है। इस छोटी उम्र में यह शक्ति प्राप्त कर लेने वाला बालक एक छोटा वैज्ञानिक ही होता है और इसीलिए इस उम्र में इस शक्ति के विकास का प्रबंध करना जरूरी है।

संक्षेप में, यही वह समय है कि जब तीव्र गति से, लेकिन प्रामाणिकता के साथ आधारभूत विकास किया जाना चाहिए।

आज के घरों में यह विकास हो पाना संभव नहीं है। अगर हमारे घर निश्चय भी कर लें तब भी वे नहीं कर सकते।

बड़े बच्चों को घरों में पर्याप्त व्यायाम नहीं मिल पाता। क्योंकि नवजात शिशु के आने से घर घिर गया है। उसके लिए शांति की आवश्यकता है। मां अब उसे खेलने के लिए झूला नहीं बांधती। नई कसरतों के लिए उपकरणों की जरूरत पड़ती है। घर के सामान को कदाचित बालक कसरत के उपकरण बना लेते हैं, जैसे कि पालने पर लटक जाते हैं, खाट पर चढ़ते हैं या दीवार पर उल्टे होकर चढ़ते हैं या कुर्सी से कूदते हैं। लेकिन इस तरह चीजों को बिगाड़ना या उनमें अव्यवस्था पैदा करना साधारणतया माता-पिता पोसाते नहीं, चीजें टूट जाने या खराब हो जाने की आशंका बनी रहती है, और उसमें सचाई है भी। इस प्रकार बालक को घर में शारीरिक व्यायाम के अवसर मिलने बंद हो जाते हैं।

और फिर बालक को शारीरिक विकास के लिए अधिक जगह मिलनी चाहिए। पिंजरे में डाला हुआ पक्षी अपना विकास नहीं कर सकता। उड़ने को पर्याप्त स्थान मिलने में ही उसके विकास की गुंजाइश संभव है। घर में अनेक सच्चे-झूठे कारणों से या अज्ञान या दृढ़ मान्यता की वजह से मां-बाप बालक के विकास में बाधक बन जाते हैं। या तो पिता अपने मताग्रह के कारण या माता अपने अतिशय लाड़-दुलार के कारण बालक को व्यायाम की दिशा में जाने से इसलिए रोक देते हैं कि कहीं बालक के चोट न लग जाए।

तो जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इन्द्रियों का तथा मन का विकास व्यवस्थित योजना के बिना संभव नहीं है। रूप-रंग आदि का परिचय, भाषा का प्राथमिक ज्ञान, मन के साधारण व्यापार आदि बालक के भीतर स्वाभाविक रूप से चलते रहते हैं। उन सबों में निपुणता लाने के लिए विशिष्ट प्रयत्न और विशिष्ट वातावरण की जरूरत पड़ती है। बालक को हम घर में बेशक लंबी लकड़ी और छोटी लकड़ी दे सकते हैं, छोटे पत्थर और मोटे पत्थर भी घर में मिल जाएंगे, परंतु पारस्परिक समानता के संबंध से क्रमिक जुड़ी हुई मोटी लकड़ियां जब बालक के हाथ में आएंगी, तभी वह छोटी और बड़ी लकड़ियों के बीच का तुलनात्मक अंतर समझ सकता है।

घर में बालक के हाथ में छोटी-मोटी वजनी चीजें भी आती हैं, पर दो वजनों में से कौनसा भारी है और कौनसा हल्का, यह निर्णय करने–वजन को अपने हाथ में लेकर तौलने तो बालक तभी बैठेगा, कि जब उसके सामने ऐसे दो वजन आएंगे, या जिन्हें हाथ में लेने पर उनके अंतर का वह सहज रूप से निर्णय नहीं ले सकेगा, और उसके सामने समाधान के लिए प्रश्न खड़ा होगा। वह अपने मन में सोचेगा कि दोनों में अंतर है तो सही, लेकिन पता नहीं चला, अतएव उसकी शोध जारी रहेगी।

इस शोध में, और शोधों के लिए बार-बार के प्रयत्न, याने पुनरावर्त्तन करने की कला में विकास की शिक्षा निहित है। ऐसी शोध के लिए बालक को जो प्रेरित कर सके ऐसे विशिष्ट उपकरणों की योजना के लिए विशिष्ट स्थल और वातावरण को आवश्यकता है।

सामान्यतया नन्हा बालक लंबी-नाटी, मोटी-पतली, चौड़ी-संकड़ी चीजों के परिचय में आता है। इनका स्थूल भेद उसकी समझ में आता है। यह फर्क इतना स्थूल होता है कि जिसके आंखें होती हैं वह कुदरती उसे समझ जाता है, परंतु जब बालक के सामने गट्टा-पेटी लाकर रखी जाती है और वह गट्टों को उनके खानों में भरने लगता है तब उसकी आंखें गट्टों को सही खानों में आसानी से भरने में अक्षम दिखाई देते है। जब बालक चौड़े खाने में छोटा गट्टा भरने की या छोटे खाने में मोटा गट्टा भरने की भूल करता है तब समझ में आता है कि अभी बालक की आंख की सही शिक्षा नहीं हुई। बालक जहां भूल करता है वहीं उसे शिक्षित करने की जगह है, वहीं उसे स्वशिक्षण का स्थल नजर आता है, वहीं ठिठक कर खड़े रहने से, वह प्रयत्न करके आगे बढ़ सकता है। खाने में गट्टा भरने की गलती उसे सुधारने को प्रेरित करती है। अपनी भूल को सुधारने के लिए वह अनेक प्रयत्न करता है और अंततः उसे सही करके आगे बढ़ता है। घर की चीजों में ऐसे साधन न होते हैं, न हो ही सकते हैं कि जो बालक को उसकी शक्ति-अशक्ति का भान करा सकें, अशक्ति को दूर करने के लिए उसे प्रेरित कर सकें, और उससे मुक्त कर सकें।

गट्टा पेटी से बारंबार खेलते बालक को जिन्होंने देखा है उन्हें रंच मात्र भी शंका नहीं रहती कि इंद्रिय-विकास में परिमाण-परिचय के लिए जो संबंध एवं क्रमिक योजना चाहिए, उसके लिए जो स्वयं-जिज्ञासा उत्पन्न करने वाले तथा प्रयत्नों के उपरांत जो तृप्तिदायी उपकरण चाहिएं, वे घर की चीजों से प्राप्त नहीं हो सकते। घर-बाहर की चीजों में परिमाणों, रंगों, ध्वनियों आदि इन्द्रियगम्य अनुभवों की सामग्री है, लेकिन उक्त सूक्ष्म एवं संस्कारी शिक्षा को जगाने व सिद्ध करने जैसी व्यवस्थित तथा क्रमिक रीति से संजोई हुई वह नहीं होती।

इसी प्रकार मन की अगली शिक्षा के लिए भूमिका स्वरूप बालक को बहुत कुछ मिला है घर से! लेकिन इधर जिस तरह के प्रामाणिक, व्यवस्थित उपकरणों तथा संतुलित परिस्थिति के बीच बालक का मानसिक विकास आगे बढ़ना चाहता है वैसे साधन और वैसी परिस्थिति हर घर में विद्यमान नहीं होती। फिर से गट्टे का ही उदाहरण लें। बालक अपने हाथ में एक गट्टा उठाकर सोचता है कि इसे किस खाने में डाला जाए। उचित खाना तलाशते वक्त वह साम्य, वैषम्य और क्रमबद्धता पर विचार करता है। यही बात रेखागणित के खानों वाली पेटी में, रंग की तख्तियों में और कुल मिलाकर सभी प्रबोधक-साहित्य में होती है। उक्त प्रबोधक-साहित्य को व्यवहार में लाने से बालक के समानता, तुलना, निर्णय, निश्चय आदि बौद्धिक-अंगों का विकास होता है।

अपनी बढ़ती हुई जरूरतों के अनुरूप बालक जैसा विशाल क्रिया-क्षेत्र मांगता है, जो वैविध्यपूर्ण प्रवृत्तियां उसके लिए उपयोगी हैं, वे सब घर में नहीं मिलती। न वे घरों में आ सकती हैं। स्थान और पैसे दोनों दृष्टि से हमारे घर इस सामग्री की व्यवस्था नहीं कर सकते।

मान लीजिए कि शिक्षाविदों द्वारा सुझाये गए इन्द्रिय एवं मन की शिक्षा के शास्त्रीय उपकरण घर में जुटा लिये जाएं। बालकों को उन्हें खेलने की पर्याप्त छूट मिले, इतना विशाल घर भी हो और इन सबका खर्च वहन करने में मां-बाप समर्थ भी हों-फिर भी उनके द्वारा बालक जैसा बहुविध

विकास करना चाहता है, वह हो नहीं सकता। एक तो शास्त्रीय उपकरणों के यथार्थ उपयोग की जानकारी ले पाना सब मां-बच्चों के लिए संभव नहीं। मां-बापों को इसके लिए फुर्सत मिल सके, उन्हें इसमें आनंद आए और दक्षता प्राप्त हो सके, इसमें काफी संदेह है। अतः शास्त्रीय साधन घर में मंगवाकर बढ़ते हुए बालक तो शिक्षित करने का सफल प्रयत्न संभव नहीं है। ऊपर के विचार को एक तरफ रख दें तब भी बालक को जिस विशाल सामाजिक जीवन की जरूरत है वह घर में कहां से मिलेगा ? घर के दो-चार बालक या गली के या सगे-संबंधियों के दो-पांच बालकों का सहजीवन सामाजिक जीवन के पाठ सीखने के लिए पर्याप्त नहीं। कारण यह, कि घर के या अपने और एक समान स्तर के बालकों का अर्थ है एक ही वातावरण, एक ही व्यक्तित्व। इसमें समाज की विविधता नहीं, ऊंच-नीचता नहीं। इसमें शक्तियों की विविधता कम मिलेगी और बड़प्पन के वातावरण में मिथ्या बड़प्पन का मिथ्या अभिमान पनपेगा। यूं तो राजाओं और श्रीमंतों के बालकों के आसपास भी समाज होता है, पर वह या तो अपने जैसा ही या सिर्फ गुलामों जैसा होता है। सर्वसाधारण मध्यम दर्जे का सामाजिक जीवन जीने का अवसर राजमहल या घर से बाहर मिलना चाहिए और वहीं मिल सकता है। वहां राजा और रंक एक ही आसन पर बैठकर सीखते हैं, एक ही तिपाई पर कसरत करते हैं, एक ही तरह का नाश्ता करते हैं और एक-दूसरे का दर्जा भूलकर एक-दूसरे के संबंध सुदृढ़ बनाकर, एक-दूसरे की दिली-एकता के कारण दोस्त बनते हैं। यह सामाजिक वातावरण गलियों के वातावरण जैसा गैरजरूरी और बुराइयों से भरा हुआ नहीं होता। जिस तरह से अनावश्यक खरपतवार को उखाड़ कर बगीचे को खूबसूरत बनाया जाता है उसी तरह से अवरोधक और बिगड़े हुए बालकों से मुक्त तथा दुसरे बुरे प्रभावों से सुरक्षित रखने योग्य वातावरण पोषक होता है। ऐसा सामाजिक जीवन बालकों को जिस उम्र में मिलना चाहिए उसी उम्र में वह उन्हें मिले, इसकी एक व्यवस्थित योजना बनाई जानी चाहिए।

इन सब बातों को देखते हुए लगता है कि ढाई से छह वर्ष के बालक को उसका घर छोटा पड़ता है और गलियों का वातावरण अच्छा होता नहीं।

घर को विकास का स्थल बनाना चाहें तो उसमें भी बहुत-सी मुश्किलें हैं। अतएव बालकों की जरूरतें पूरी करने के लिए बालगृह की आवश्यकता है।

बालगृह कैसा हो ? घर से विशाल हो, पर घर जैसा ही हो। जहां गली के याने समाज के बालक इकट्ठे हों, ऐसा स्थान हो, लेकिन जहां गली वाली निरंकुशता न हो। माता-पिता की कमी पूरी करने वाले, पर विशेष रूप से शिक्षा का ही अध्ययन करने वाले और इसी काम के लिए नियुक्त शिक्षक जहां हों। जहां प्रकृति और परिवार से मिलने वाले शारीरिक एवं इन्द्रिय विकास को अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान किया जाता हो। जहां विकास के लिए आधारभूत स्वतंत्रता और स्वयंस्फूर्ति का वातावरण दिया जाता हो और बालक को उच्छृंखलता या परतंत्रता की दिशा में जाने से रोका जाता हो। संक्षेप में, बालगृह ऐसा हो कि ढाई से छह वर्ष तक की उम्र के बालक अपनी अनंत आंतरिक शक्तियों का साक्षात्कार करने की दिशा में आगे बढ़ते रहें। ऐसे बालगृह की परम आवश्यकता है।

डॉ. मोंटेसरी ने सन् 1907 में इटली के रोम नगर में सर्वप्रथम बालगृह स्थापित किया था। वहां उन्होंने बाल-विकास की शास्त्रीय सामग्री त्याग कर बालक को विकास की राह पर खड़ा किया तथा बाल- विकास का ऐसा अद्भुत, आश्चर्य-विमूढ़ कर देने वाला दर्शन किया और कराया कि जिसे देख कर हर्षाश्रु छलक उठें। उसी क्षण से बालगृह का विचार नई-पुरानी समस्त दुनियां में शुरू हो चुका है।

अभी तलक देश-विदेश में बालगृहों की संख्या निरंतर बढ़ती चली जा रही है। आइए, हम भी बालगृह के विचार को ग्रहण करें, और इसे आजमाएं। □

मोंटेसरी पद्धति क्या नहीं है और क्या है!

गुजरात में मोंटेसरी पद्धति लाने वाले मोतीभाई नरसिंह भाई अमीन थे। पहला मोंटेसरी बालगृह वसो गांव में खुला था। संस्थापक थे गोपालदास दरबार। श्री छोटूलाल बालकृष्ण पुराणी ने 'मोंटेसरी शिक्षण पद्धति' नामक पुस्तक लिखकर बाल-शिक्षण और मोंटेसरी पद्धति की सेवा की थी। इस वक्त गुजरात में मोंटेसरी पद्धति के आधार पर चलने वाली शालाएं सिर्फ चार हैं। एक भरूच में श्री पुराणी की देखरेख में, दूसरी अहमदाबाद के शारदा मंदिर में, तीसरी वढ़वाण में वढ़वाण शिक्षा मंडल के तत्वावधान में और चौथी श्री दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी भवन में बाल-मंदिर के नाम से जानी जाती है।* बंबई की म्युनिसिपल शालाओं में, बड़ोदरा राज्य की किंडरगार्टन शालाओं में, ऐसे ही अन्य राज्यों की बाल-शालाओं में तथा कतिपय श्रीमंतों के अपने निजी घरों में मोंटेसरी के उपकरण देखने को मिलते हैं' ऐसा कहा जाता है कि 'हमारे वहां मोंटेसरी पद्धति चलती है। परंतु उनमें मोंटेसरी पद्धति जैसा कुछ भी तो देखने को नहीं मिलता। बल्कि वहां मोंटेसरी पद्धति की मखौल उड़ाई जाती है। यह सब देखकर इस पद्धति को समझने वालों के दिल में दुख होना स्वाभाविक ही है।

बहुत अच्छी बात है कि आज बाल-शिक्षण की तरफ अनेकानेक लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। मोंटेसरी पद्धति का प्रसार भी ठीक-ठीक होने लगा है। भावनगर के बाल-अध्यापन-मंदिर में मोंटेसरी पद्धति का अध्ययन करने के लिए छात्राध्यापक-छात्राध्यापिकाएं आने लगे हैं। यह एक शुभ शकुन है। धनी-मानी लोग अपने घर में मोंटेसरी-निष्णात शिक्षकों की मांग करने लगे हैं। राज-रजवाड़ों में वढ़वाण राज्य ने मोंटेसरी शाला खोलने में पहल की है। अन्य राज्य भी विचार कर रहे हैं।

इस तरह मोंटेसरी पद्धति का सूर्य धीमे-धीमे आकाश पर चढ़ता चला जा रहा है, तथापि अज्ञान का अंधेरा अब भी सघन और गहरा है। सामान्य-जन इसे न समझें या गलत समझें तो इसमें कैसा आश्चर्य, जबकि विचारवान लोगों, विद्वानों, शिक्षकों, शिक्षाविदों, राष्ट्र के आचार-विचार को निर्मित करने वाले युग-प्रवर्तकों तक में इस पद्धति को लेकर नासमझी या अधकचरी समझ देखने को मिलती है। यह एक चौंका देने वाली दुखद स्थिति है।

*जाहिर है ये सन 1931की बातें हैं–अनुवाद

आज मोंटेसरी पद्धति यूरोप, अमेरिका, चीन, जापान, फिलीपीन, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा अन्य अनेक देशों में वेग से फैल रही है। कारण स्पष्ट है कि इसके सिद्धांत मानव-विकास की स्वाभाविक आवश्यकता तथा क्रम पर निर्मित हैं। अपनी जमीन पर खड़े रह कर आज के देश जिस तरह की शिक्षा पद्धति की अपेक्षा करते हैं, वैसी शिक्षा-पद्धति मोंटेसरी के सिद्धान्तों पर आयोजित करके उपलब्ध की जा सकती है, ऐसी आस्था उन लोगों की बन चली है जिन्होंने अलग-अलग देशों में इस दिशा में प्रयोग करके तजुर्बा हासिल किया है। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि मोंटेसरी-पद्धति जीवन विकास की पद्धति के रूप में विविध धर्मों एवं राजनीति-व्यवस्था वाले देशों के लिए अनुकूल ठहरती है। और फिर शिक्षा-पद्धति होने के बजाय जीवन-पद्धति होने के कारण इसकी सार्वदेशिकता व सार्वभौमिकता स्वाभाविक है। ऐसे में यह पद्धति क्या है और क्या नहीं, यह बात हम शिक्षकों को तो जान ही लेनी चाहिए, क्योंकि मानव-जीवन को निर्मित करने का दायित्व हम अपने सिर पर लेकर बैठे हैं अथवा यों कहें कि यह दायित्व हमारे सिर पर आ पड़ा है।

मोंटेसरी पद्धति के निर्मल स्वरूप को जानने से पहले हमें इसके आइने पर जो धूल इकट्ठा हो गई है उसे पौंछ डालना चाहिए। यह धूल है इसके बारे में हम लोगों की तरह-तरह की विचित्र मान्यताएं। आइए, पहले इन मान्यताओं को देख लें :

1. अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि आयाएं नन्हें-मुन्ने बालकों को कैसे खेलाएं– यही बातें मोंटेसरी पद्धति में सिखाई जाती हैं। और इस पद्धति के उपकरण होते हैं बच्चों के खिलौने।

वस्तुतः मोंटेसरी पद्धति के शिक्षण-उपकरणों को खिलौनों के रूप में बेचने के लिए कतिपय स्वार्थी लोग ऐसी गप्पें हांका करते हैं। क्योंकि इसी में उनका हित छिपा होता है। धनी-मानी लोग ऐसे व्यापारियों से धोखे में उपकरण खरीद भी लेते हैं। पर वस्तुतः ये उपकरण अन्य खिलौनों जैसे खिलौने नहीं होते कि उनकी तरह इनसे बालकों का दिल बहलाया जा सके। ये उपकरण इन्द्रिय-विकास के उपकरण होते हैं, और मात्र इसी काम आते हैं। अगर इन्हें उचित तरीके से बालक के पास रखा जाए और बालक इनका सही-सही उपयोग करे, तभी इनका लाभ मिल सकता है। अन्यथा होगा यह कि इन उपकरणों को या तो बच्चे हाथ तक नहीं लगायेंगे, या तोड़-ताड़ डालेंगे और परिणामतः इन्हें उठाकर अलमारी में रखना पड़ेगा। आया तो एक साधारण-सी नौकरानी होती है। शिक्षण में उसकी रुचि हो भी कैसे सकती है ? जबकि मोंटेसरी पद्धति का निष्णात शिक्षक होने का अर्थ है वह इस वैज्ञानिक-दृष्टि को समझे, इसे स्वयं जाने, अनुभव करे, जीवन में उतारे। यह कठिन काम है। आयाओं से यह हो भी कैसे सकता है ? अतएव यह एक भ्रांत मान्यता है।

2. एक और मान्यता है कि 'मोंटेसरी' और 'किंडरगार्टन' दोनों एक ही चीज़ है। अथवा किंडरगार्टन शाला में मोंटेसरी पद्धति के उपकरण लाकर रख दें तो वह मोंटेसरी पद्धति बन जाती है। जिस प्रकार से किंडरगार्टन का साहित्य मनोविनोदपूर्वक ज्ञान देने के लिए प्रयुक्त होता है, उसी तरह की बात मोंटेसरी-उपकरणों के साथ लागू होती है। यह एक बहुत बड़ी भूल है।

सच पूछो तो किंडरगार्टन और मोंटेसरी का परस्पर कोई लेना-देना नहीं। दोनों पद्धतियों में कुछेक मुद्दों पर सतही समानता दिखाई देती है, पर दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है और अंतर सैद्धांतिक है।

किंडरगार्टन में मनोरंजन के साथ ज्ञान दिया जाता है, जबकि मोंटेसरी में बालक स्वयं आनंदित होकर ज्ञान प्राप्त करता है। जरा गहरे उतरें तो कहा जा सकता है कि किंडरगार्टन में ज्ञान शिक्षण का प्रश्न है जबकि

मोंटेसरी में वह विकास का प्रश्न है। हालांकि विकास का परिणाम ज्ञान-प्राप्ति ही है।

किंडरगार्टन शिक्षा का प्रबंध करता है और इस कारण वहां शिक्षक नामक व्यक्ति अनिवार्यतया अपरिहार्य बन जाता है, जबकि मोंटेसरी में बालक को अपना विकास अपने-आप करना होता है अतः वहाँ शिक्षक का व्यक्तित्व अत्यन्त गौण हो जाता है।

पर-प्रेरणा में और स्व-प्रेरणा में जो अंतर है, पर-प्रकाश में और स्व-प्रकाश में जो फर्क है, वही फर्क किंडरगार्टन और मोंटेसरी शिक्षण-पद्धतियों में है। इस फर्क का मूल मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की मान्यताओं और स्वीकार में निहित है।

दोनों पद्धतियों में यह बात तो स्वीकार्य है ही कि शिक्षण का आधार रस है। लेकिन किंडरगार्टन पद्धति रस को उत्पन्न करने में विश्वास करती है, जब कि मोंटेसरी पद्धति रस की स्वयं-उत्पत्ति में आस्था रखती है। किंडरगार्टन पद्धति बालकों को रस के घूंट पिला कर ज्ञान की भूख जगाती है, जबकि मोंटेसरी पद्धति सच्ची आंतरिक भूख का इंतजार करती है। एक कदम आगे बढ़कर अगर कहे तो अब तक की तमाम शिक्षण-पद्धतियां और किंडरगार्टन पद्धति दोनों यूं मान कर चलते हैं कि हम बालक को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं, क्योंकि बालक का मन 'कोरे कागद' जैसा होता है। जबकि मोंटेसरी पद्धति की मान्यता है कि कोई आदमी किसी को पढ़ा-लिखा नहीं सकता। याने हर आदमी खुद अपना गुरु है। ज्ञानोपार्जन हमारे लिए उतना ही जरूरी है जितना जीना। बालक का मन कोरा-कागद नहीं है अपितु उसमें एक सम्पूर्ण मनुष्य विद्यमान रहता है।

ऐसी विरोधी मान्यता के कारण ही एक पद्धति में रस को उंडेलना पड़ता है, जबकि दूसरी पद्धति में रस भीतर से फूटता है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मोंटेसरी और किंडरगार्टन दोनों को एक समझना पहाड़-सी भूल है। इस भूल की वजह से हमारे जिन-जिन

वर्तमान किंडरगार्टन विद्यालयों में मोंटेसरी के उपकरण व्यवहृत किये जाते हैं वहां-वहां उनका दुरुपयोग होता है। इससे मोंटेसरी-पद्धतिजनित परिणाम प्राप्त नहीं होते, और पद्धति को बदनामी मिलती है। अतः विचार एवं व्यवहार में से ऐसी मान्यताएं एकदम दूर होनी चाहिए।

3. एक और मान्यता है कि मोंटेसरी पद्धति ऐसी जादुई छड़ी है कि बालक नितांत सुघड़, सयाने, सुंदर बन जाते हैं और बिना परिश्रम किये, अल्प वय में ही झटाझट अंकों -अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी मान्यता हमारे यहां तो है ही, अमेरिका में भी है।

बात बिल्कुल सही है कि इस पद्धति के द्वारा विकासमान बालक सुंदर एवं सुघड़ बनता है तथा अल्प वय में ही इन्द्रियों, शरीर, बुद्धि एवं कल्पना के विकास में आश्चर्यजनक प्रगति करता है। बेशक, अंक-ज्ञान एवं अक्षर-ज्ञान में भी वह अन्य शालाओं के बालकों से आगे बढ़ा हुआ महसूस होता है। लेकिन यह सब मोंटेसरी पद्धति के जादू का नहीं, उसकी स्वाभाविकता का फल है। बावजूद इसके, मोंटेसरी पद्धति इन फलों में निःशेष नहीं हो जाती। जहां-जहां भी लोग ऐसा मानते हैं कि मोंटेसरी पद्धति, याने जो ऊपर वर्णित है वही सब, तो वहां-वहां लोग उसे समझते नहीं। अपूर्ण समझ के कारण ही यूरोप उसे अपनी वैश्यवृत्ति से स्वीकार करता है, तथा अल्प-आयु से ही अच्छे नतीजे प्राप्त करने के लिए इसका उपयोग करता है।

वस्तुतः मोंटेसरी पद्धति अपने सिद्धान्तों में निवास करती है। इन सिद्धान्तों को विस्मृत करके परिणाम की ओर लपकने वाले नुकसान में रहते हैं, तभी तो डॉ. मोंटेसरी को मोंटेसरी शाला पर पहरा बिठाना पड़ा। हमें इस सचाई से रंच मात्र भी इधर-उधर होने की जरूरत नहीं है कि मोंटेसरी पद्धति उत्तम नतीजे लाने के लिए नहीं है अपितु समग्र विकास प्राप्त करने के लिए है।

4. एक मान्यता ऐसी है, और जो अच्छे-अच्छे विचारकों तथा विवेक-सम्पन्न लोगों तक में व्याप्त है कि मोंटेसरी पद्धति याने बालकों को मनमर्जी मुताबिक काम करने देने वाली पद्धति। उसमें बालकों की न मारपीट होती है, न उन्हें डराया-धमकाया जाता है, न ही पढ़ाया जाता है।

बालक खेलते हैं, भटकते हैं और मजे करते हैं ऐसी धारणा रखने वाले लोग अगर मोंटेसरी पद्धति संबंधी दो-एक किताबें पढ़ लें तो सब कुछ जान लें। पर उन लोगों का अज्ञान हमें दूर करना है।

बेशक इस पद्धति में मारपीट या धमकाना तो हर्गिज नहीं, और जिसे हम पढ़ाना कहते हैं, वैसा पढ़ाना भी नहीं है। एक तरह से यह बात भी सही है कि मोंटेसरी शाला में बालक जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं और अलबत्ता, वे खेलते हैं, भटकते हैं, मजे करते हैं। मारपीट करके या डरा धमका कर पढ़ाना कितना गलत और बुरा है, उनके बारे में बताने का यह स्थान नहीं है। मारने-पीटने से मनुष्य किस तरह मनुष्य न रहकर राक्षस या दीन-दास (गुलाम) बन जाता है, वह कितना जड़-बुद्धि या चरित्रहीन बन जाता है उसकी लंबी कहानी कहना यहां उचित नहीं पर यह बात सच है कि इस पद्धति में से मार, लालच, डांट-डपट आदि को निष्कासित कर दिया गया है। जब बालक को जबरन पढ़ाया जाता है तभी तो उसे मारने-पीटने की जरूरत पड़ती है। जब हम मान कर चलते हैं कि बालक-स्वभाव से दुष्ट होता है तभी तो उसकी कमजोरियों के लिए उसे सजा देने की जरूरत पड़ती है। मोंटेसरी-पद्धति के सिद्धान्तों पर चलने वाली शालाओं से मार-पीट आदि स्वतः समाप्त हो जाते हैं। और फिर इन शालाओं में शिक्षक पढ़ाने के लिए नहीं बैठता, उसे तो सिर्फ सीखने का मार्ग सरल बनाना होता है। क्या-कुछ पढ़ना है और क्या-क्या नहीं पढ़ना, यह सब बालक की आंतरिक रुचि पर निर्भर करता है। पढ़ाने को बैठकर बालक की आंतरिक रुचि में बाधा डालने वाला व्यक्ति मोंटेसरी का शिक्षक नहीं होता।

सम्पूर्ण जगत ज्ञान का विषय है। मोंटेसरी पद्धति अपनी शाला में समग्र ज्ञान के मूल तत्वों का वातावरण रच कर उसमें से बालक को अपनी पढ़ाई का विषय ढूंढ निकालने की अनुकूलता प्रदान करती है। ऐसी अनुकूलता उपलब्ध कराने की सम्पूर्ण फिलोसोफी ही मोंटेसरी-पद्धति है। बालक शाला में मनचाहा काम करते हैं, इस कथन में सचाई तो है ही पर इसका अर्थ भिन्न है। मोंटेसरी शाला जीवन-विकास का स्थल होता है। वहां

जीवन-विकास का वातावरण होता है। वहां जीवन-विकास को आवश्यकतानुसार मार्ग दिखाने वाले, रास्ते पर प्रकाश डालने वाले दीप-स्तंभ होते हैं। ऐसी परिस्थिति में अपने जीवन-विकास के लिए बालक उन्हें जो रुचे वह काम कर ही सकते हैं।

अगर यह माना जाता है कि जहां बालक परस्पर मारपीट करें, गाली दें, एक-दूसरे की चीजें छीनें, चीखें, अव्यवस्था या अराजकता का माहौल पैदा करें, आज्ञापालन या ऐसे अन्य गुणों को नष्ट करें, वही शाला मोंटेसरी शाला है-याने उसी शाला का नाम मोंटेसरी शाला की स्वतंत्रता है, तो यह मान्यता निराधार है, बल्कि कहना न होगा कि यह आत्मद्रोही व आत्मघाती है। आइए, स्वतंत्रता की बात यहीं छोड़कर आगे चलें।

बच्चे खेलें और मौज-मजे करें यही तो इस नवीन पद्धति का प्राण है। जीवन कटुता से भरा हुआ नहीं हैं, न ऐसा होना ही चाहिए। पर जीवन की दृश्यमान कटुताएं हम लोगों ने ही पैदा की हैं और उनको हम बालक की भेंट चढ़ा देना चाहते हैं। हम लोग जो अपने दुख-दर्दों से घिरे हुए हैं, कम से कम भावी नागरिक को हमें उससे बचाने की उदारता दिखानी ही चाहिए। हमारा सम्पूर्ण जीवन एक आनंदमय उत्सव होता है अतः हमारी समस्त प्रवृत्तियां भी आनंदपूर्ण होनी चाहिए। 'काम के समय काम और खेल के समय खेल' का सिद्धान्त अब पुराना पड़ गया है। अब तो 'काम के समय खेलो और खेल के समय काम करो' का सिद्धान्त जीवन-मर्म बन गया है। विकास की सम्पूर्ण क्रिया में मोंटेसरी पद्धति मनुष्य को आनंद करते हुए ही देखती है, इसी से जब बालक खेलते हैं या मजे करते हैं, तो वहां वे विकास के अलावा और कुछ नहीं करते, यह बात वह भली-भांति जानती है। बालक कई बार गिरते हैं, रोते हैं, फिर भी चढ़ते हैं और फिर गिरते हैं, रोते हैं। आखिर में उन्हें सफलता मिलती है तो वे हंसते हैं। वे सब विकास के मार्ग पर हैं और इसीलिए आनंद की बात है। केवल दुख-दर्द में मानव-जाति अपना विकास नहीं कर सकती। यह बात और है कि वह दुख-दर्द को ही सुख-रूपी माने। अतः मोंटेसरी शाला बालक के लिए आनंद का धाम है, यह सच है, लेकिन ऊपरी अर्थ में।

5. मोंटेसरी पद्धति को लेकर कुछ और मान्यताएं भी हैं। कुछ अध्यापकों के अनुसार मोंटेसरी पद्धति याने बैठे-ठाले बालकों के अवलोकन की पद्धति। कुछ लोग सोचते है कि यह कोई कठिन काम नहीं है। शिक्षण-उपकरणों के बीच बालकों को छोड़ दो, बस विकास हो जाएगा। अध्यापक को तो सिर्फ खड़ा रहना है। कुछ लोग मानते हैं कि इस पद्धति में कोई खास अध्ययन करने का या अनुभव लेकर सीखने जैसा कुछ नहीं। दो-एक किताबें पढ़ लो, उपकरण मंगाकर शाला खोल लो, काम बन गया! क्या ऐसे ही लोगों के हाथों नकली मोंटेसरियां नहीं चल रही ? कुछ लोग यों भी मान बैठते हैं कि छह महीने या बारह महीने भावनगर के अध्यापन-मंदिर में रह आए, बस हो गए मोंटेसरी-निष्णात ! ये तमाम मान्यता अर्धसत्य हैं। मोंटेसरी पद्धति के संबंध में आगे लिखते समय इन तमाम मान्यताओं का यत्किंचित उत्तर मिल जाएगा।

मोंटेसरी पद्धति कोई पढ़ाने का 'मैथड' है तो नहीं, कि फटाफट सीख लिया। यह कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धांत भी नहीं, कि जिसे रट लिया। यह कोई ऐसी स्थूल चीज भी नहीं कि अवलोकन मात्र से पकड़ में आ जाए। इसका प्रदेश विशाल और गहन है। यह एक दर्शन है। एक जीवनव्यापी विषय है। इसका अध्ययन करने या इसे समझने का अर्थ है जीवन को जानना और समझना, और यह कोई इतनी आसान बात नहीं।

तो अब यह पद्धति क्या है, इस संबंध में हम विचार करें!

मोंटेसरी पद्धति याने क्या ?

मोंटेसरी पद्धति का अर्थ है जीवन-विकास की पद्धति। आबाल-वृद्ध सबके लिए यह अनुकूल है। जिसे जीवन की खोज करनी हो, इस पद्धति के माध्यम से वैसा कर सकता है। आज इस पद्धति के सिद्धान्तों के अनुकूल वातावरण रचने वाली शालाओं में तीन से ग्यारह वर्ष के बालक आत्मानुसंधान कर रहे हैं। जो लोग इस दिशा में कार्यरत हैं उन्हें भरोसा है कि इसी पद्धति की राह पर चलकर समग्र शिक्षण का प्रबंध किया जा सकता है।

विकास की क्रिया एक चेतन-क्रिया है। यह भीतरी क्रिया है। हर तरह के अनुकूल या प्रतिकूल बाहरी वातावरण में भी यह क्रिया चलती ही रहती है। अनुकूल वातावरण इस क्रिया को गति देता है, जबकि प्रतिकूल वातावरण इसे कुछ समय के लिए रोक देता है। आखिरकार यह क्रिया आगे बढ़ने की ही है, क्योंकि विकास का स्वभाव प्रगति है। मोंटेसरी पद्धति यह मानती है कि मनुष्य स्वयं विकासशील प्राणी है। प्रति क्षण वह विकास के लिए संघर्ष करता है, विकास के लिए ही क्रिया करता है, और उसकी प्रत्येक क्रिया उसे विकास की तरफ ले जाती है।

प्रत्येक जींवत प्राणी अपने स्वरूप को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए विकास करता है। वनस्पति और मनुष्येतर प्राणियों का अध्ययन हमें इसी सत्य का दर्शन कराता है। प्रत्येक बालक में बीज रूप में पूर्ण मनुष्य विद्यमान रहता है। इस भावी मानव को अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रकट करने का पुरुषार्थ ही विकास की क्रिया है। प्रत्येक बीज एक-दूसरे से भिन्न होता है। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न होता है। विकास की दिशाओं और रूपों में भिन्नता है, इसी से विकास में रोचक व रोधक वातावरण का अर्थ सापेक्षता के साथ विद्यमान रहता है। इन कारणों से हम किसी के विकास का निर्माण हर्गिज नहीं कर सकते। अधिक से अधिक हुआ तो विकास की दिशा को देखकर हम विकास की पोषक वस्तु को सामने रख देते हैं और अवरोधक को पीछे हटा देते हैं। ऐसा भी होता है कि जिसे हम अवरोधक कहते हैं वह भी विकास के मार्ग में अपने अवरोधक-स्वरूप की वजह से बहुधा विकास में सहयोगी बन जाता है। थोड़ा और गहरे उतरने पर ऐसा भी लगता है कि रोचक-रोधक शब्द एक सीमा तक ही जाते हैं, फिर तो प्रत्येक परिस्थिति प्रगति का पोषण करने वाली बन जाती है।

मनुष्य को अपना परम लक्ष्य प्राप्त करने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। बंधन में बंधा हुआ मनुष्य चल नहीं सकता। आज का मनुष्य तरह-तरह के परंपरा-प्राप्त उत्तराधिकारों से बंधा हुआ तो है ही। इन बंधनों के ऊपर हम अपनी पसंद के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, व्यावहारिक नियमों के और ऐसे अन्य बंधन डाल कर उसे और भी अधिक बांध देते हैं

और फिर उसे 'सच्चा इंसान' बनाने के लिए शिक्षा का प्रबंध करके मुस्कुराते हैं। ऐसा करके हम उसे स्वत्व से, स्वदेश से, स्वानुभव से बहुत दूर ले गए हैं। इसके प्रमाण स्वरूप स्वयं को तथा संसार को समझने के लिए व्यर्थ भटकता 'आज का मनुष्य' हमारे सामने मौजूद है। मनुष्य को उच्च कोटि की मानवता प्राप्त करने के लिए स्वभावानुसार स्वयं-विकास की राह पकड़नी चाहिए–यही एकमात्र रास्ता है। इसके लिए मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिए। मोंटेसरी पद्धति की महत्ता बालक को शुरू से ही ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करना है। इस पद्धति का अगर कोई एकमात्र प्राण जानने योग्य है, तो वह है स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता याने सम्पूर्ण स्वाधीनता। मनुष्य अपने विकास की भूख को तृप्त करने, अपनी ही शक्ति से, अपनी ही विवेक-बुद्धि से, अपनी ही आंतरिक भावना से प्रेरित होकर और अपने आंतरिक प्रवाहों से बाध्य होकर जो कोई भी काम करना शुरू कर देता है, उन्हीं को स्वतन्त्र काम समझना चाहिए। बौद्धिक विकास के लिए जहां मनुष्य स्वयं अपनी मर्जी से दूसरों की सहायता लेता है तो वहां वह पराधीन नहीं होता। इसी तरह विकास के निमित्त सहायता तलाशने वाले को, उसकी मर्जी हो तो, सहायता देने वाला व्यक्ति पराधीन नहीं बनाता। मोंटेसरी पद्धति अपने शैक्षिक उपकरणों के माध्यम से विकास को पोषित करने वाली ऐसी सहायता प्रदान करती है। स्वतन्त्रता के सिद्धांत की सफलता का कारण इसी में विद्यमान है। यहीं पता लगता है कि मोंटेसरी पद्धति में स्वतन्त्रता का अर्थ विकास करने वालों के पक्ष में स्वाधीनता और विकास चाहने वाले के पक्ष में पोषक व प्रेरक ऐसी सहायता देना है। मार्गदर्शक परिस्थिति न भी होगी, तब भी मनुष्य विकास तो साधेगा ही, क्योंकि आत्मा का स्वभाव है प्रयत्न करना। लेकिन ऐसा करने में उसे बहुत अधिक समय लगेगा और उसे अपनी शक्ति का अपव्यय करना पड़ेगा। मनुष्य को अब तक किए गए विकास का, विकास करने की रीति का और विकास की सामग्री का लाभ लेना ही चाहिए। इन तीनों को 'सहायता' या 'परिस्थिति' के नाम से हमें जानना होगा। स्वाधीन बनने के लिए मनुष्य को इस परिस्थिति की आवश्यकता पड़ेगी ही। मोंटेसरी पद्धति का साहित्य, वातावरण आदि ऐसी

ही एक परिस्थिति है। इस परिस्थिति से बाहर निकल कर विकास ढूंढ़ने का स्वातंत्र्य मोंटेसरी पद्धति में नहीं है।

फिर मनुष्य ठहरा सामाजिक प्राणी। समाज से बाहर जाकर वह आज की स्थिति में वैयक्तिक विकास साधने में सक्षम नहीं है। सामाजिक व्यवहार, रहन-सहन, शिष्टाचार आदि के ज्ञान की और इनके पालन की उसे स्वयं अपने विकास के लिए ही आवश्यकता है। विकास हेतु जीवन चलाने के लिए भी उसे अनेक रीति से सामाजिक बनना पड़ता है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रता पर समाज का अंकुश स्वाभाविक रूप से आया हुआ है और उसे मनुष्य ने स्वेच्छा से स्वीकार भी किया है। यह अंकुश जितने परिमाण में मनुष्य को स्वतन्त्र रख पाता है, अथवा मनुष्य उसे अपनी स्वतंत्रता संभला कर स्वीकार करता है, उतने परिमाण में वह सहायक है, लेकिन जब समाज व्यक्ति के ऊपर अधिक आक्रमण कर बैठता है, अथवा व्यक्ति समाज के दबाव को स्वतन्त्रता के विनाश की हद तक स्वीकार करता है, तो वह अंकुश अपकारक बन जाता है। सच है सामाजिक अंकुश को व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सनातन नियम या स्वरूप बांध नहीं सकता। इसमे देश, काल, समाज एवं व्यक्ति को लेकर फर्क पड़ता ही है। अतएव व्यक्ति-विकास को मानव विकास का लक्ष्य मान कर, और सामाजिक अंकुश को इस लक्ष्य तक पहुंचने का एक साधन मान कर, उसके नियम एवं स्वरूप का निर्णय किया जाना आवश्यक है। जब सामाजिक अंकुश व्यक्ति-विकास का दुश्मन बन जाता है तो उसे उलट डालने की आवश्यकता तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार से निर्णीत सामाजिक अंकुश को स्वीकारना हर विकास चाहने वाले व्यक्ति का धर्म है।

मोंटेसरी पद्धति इस नियम को स्वीकार करके व्यक्ति-स्वातंत्र्य के प्रदेश को एक रीति से बांध देता है। यह प्रदेश भी एक अन्य मर्यादा से मर्यादित है। यह मर्यादा है धर्म-नीति की। सामाजिक अंकुश की भाँति यह मर्यादा भी एक साधन ही है। विकास के लिए सामाजिक जीवन जिस तरह से अनिवार्य है, उसी तरह से नैतिक व धार्मिक जीवन भी अनिवार्य है। संसार का कारोबार व्यवस्थित रीति से चलाने के लिए स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक की कितनी ही व्यवस्था है। इस व्यवस्था को भले ही नैसर्गिक कहो या

दैवी, लेकिन यह है; और इसका अनुभव होता है बुद्धि से और जहां बुद्धि काम नहीं करती वहां हृदय से होता है। ये विषय विज्ञान के तराजू पर तोले नहीं जा सकते, और मानव-बुद्धि की मर्यादा के भीतर भी नहीं आते। ये बातें जीवन के उच्च प्रदेश की हैं। इसके पीछे रहने वाले तत्व को मैं नीति अथवा धर्म कहता हूँ। विकासगामी मनुष्य स्वभावतः नीति एवं धर्म-परायण होता ही है। लेकिन जिसे हम आज धर्म और नीति के नाम से पहचानते हैं उसमें नीति और धर्म कितना है, इस प्रश्न को न छेड़ते हुए भी मैं कहूंगा कि धर्म और नीति अन्तःवृत्ति की चीजें हैं। भिन्न-भिन्न स्तरों पर खड़े व्यक्तियों को धर्म और नीति को समझने में अंतर पड़ने का यही कारण है। देश काल और समाज के संबंध में धर्म-नीति की कल्पना में बड़ा फर्क दिखाई देता है। इसके मूल में यही कारण है। सच पूछो तो विकास चाहने वाली प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा अपनी नीति और अपने धर्म को स्वतंत्र स्थिति में ही समझ सकती है। और बहुधा बहिर् धर्म और नीति के बन्धन को तोड़कर भी चलती है। उसकी प्रगति के साथ धर्म नीति का ख्याल (परशेप्सन) बढ़ता और बदलता जाता है। अतः धर्म-नीति हमेशा सापेक्ष रहती है। मोंटेसरी पद्धति में इस वृत्ति के विकास को भरपूर अवकाश मिलता है।

धर्म तथा नीति की वृत्ति एक ताकत है। इन दोनों के अभाव में मनुष्य की अपनी ही हीन वृत्तियों की गुलामी है। निर्बल वृत्तियों के अधीन रहने वाला व्यक्ति सचमुच स्वतन्त्र नहीं होता। अतः मोंटेसरी पद्धति का स्वातंत्र्य धर्म या नीति संबंधी निर्बलता का हर्गिज पोषण नहीं करता। वह स्व के याने अपने ही तन्त्र के अधीन है। ऐसा मनुष्य नीति-धर्म को समझ सकता है और पालन कर सकता है। स्वातंत्र्य याने नीति, धर्म एवं सामाजिक शिष्टाचार के मध्य बहती गंगा। स्वातंत्र्य याने समाज और धर्म-नीति की जड़ दीवारों से चारों ओर बांधा हुआ तालाब नहीं। मोंटेसरी शालाओं के स्वातंत्र्य को उच्छृंखलता कहना लोक मान्यता की बहुत बड़ी भूल होगी। वर्तमान शालाओं की जड़ व्यवस्था की दृष्टि से कदाच लग सकता है कि मोंटेसरी शाला में अव्यवस्था है, पर वह ऊपरी दृष्टि से ही। दो किनारों के बीच चल कर अपने आंतरिक विचार को दिमाग के समक्ष साकार करने के लिए जूझता-आंदोलित करता बालक अगर किसी को

भटकता हुआ लगे तो यह मोंटेसरी पद्धति का दोष नहीं, देखने वाले की गलती है। जीवन में जहां स्वतंत्रता की बात कोसों दूर है अभी, वह शिक्षा में स्वतंत्रता लाने की बात चौंकाने जैसी है। लेकिन अभी तक हमारे जीवन में स्वतन्त्रता का भाव अगर नहीं आया तो इसका कारण है स्वतन्त्रता प्राप्त न होना, अगर यही समझ लें तो सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकार की स्वतंत्रता की लड़ाइयां पहले ही समाप्त हो जाएं और मानव जाति स्वतंत्रता जैसी पवित्र व उच्च वस्तु को प्राप्त करें। मोंटेसरी पद्धति मानव जाति को 'स्वातंत्र्य' की अमूल्य भेंट देने अवतरित हुई है। गुलामों को जुल्मी सत्ता से, शासित को शासक के चंगुल से, गरीब को पूंजी से, व्यक्ति को समाज से, अंतरात्मा की आवाज को शास्त्र-वचन से, अंतःस्फूर्ति को बुद्धि से, चेतन को जड़ता से और ज्ञान को अज्ञान से आजादी दिलाने वाली पद्धति मोंटेसरी पद्धति है। भावी नागरिकों के शरीर, मन तथा आत्मा का स्वराज्य स्वातंत्र्य में हैं और उसका मूल स्वातंत्र्य-शिक्षण में है। डॉ. मोंटेसरी इसकी आद्य प्रणेता हैं।

मोंटेसरी पद्धति का एक अंग स्वातंत्र्य है और दूसरा अंग है स्वयं-स्फूर्ति। विकास स्वतंत्र और स्वयं स्फुरित होना चाहिए। जो विकास आंतरिक कारणों से नहीं अपितु बाहरी कारणों से होता है, जिसके पीछे दंड और पुरस्कार आदि होते हैं वह विकास कहलाने का हकदार नहीं है। हम बालक का बहुविध विकास साधने के लिए अनेक तरह के कृत्रिम उपायों का आयोजन करते हैं। परिणामस्वरूप आज का व्यक्ति सिर्फ़ बहिर्मुखी बन कर रह गया। वास्तविक जीवन-उद्देश्य उसके हाथ न लगने के कारण वह आजीवन असंतुष्ट और दुखी रहता है। हमारा आज का यह भड़ैती जीवन स्वयं-स्फूर्ति के अभाव की वजह से है। इसका उपाय यही है कि शिक्षण में स्वयं-स्फूर्ति को स्थान दिया जाना चाहिए। आजकल बालक को जाने बिना, उसकी आंतरिक जरूरतें क्या हैं इसे तय किये बिना, हम उसके लिए पाठ्यक्रम का निर्धारण करते हैं, समय-चक्र बनाते हैं और तरह-तरह की तर्क-सिद्ध पद्धतियों से उसे अच्छी से अच्छी तरह पढ़ाने की खूब मेहनत करते हैं। और इसके बावजूद भी जब उसे समझ में नहीं आता तो हम अच्छे-बुरे तरीके काम में लाते हैं और शिक्षा के उलझे हुए धागों को और

अधिक उलझा डालते हैं। शिक्षण की फसल हमारी आकांक्षा के परिमाण में उतरती नहीं, अकस्मात ही कदाचित अच्छी फसल मिल जाए तो मिल जाए। इसका कारण यह है कि हम टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर चले जाते हैं। स्वयं-स्फूर्ति के आधार पर शिक्षण को आयोजित करने के बजाय हम शिक्षण के अनुरूप स्वयं-स्फूर्ति रचने की उम्मीद रखते हैं –मानो कोई भूख के अनुरूप भोजन बनाने की बजाय भोजन के अनुरूप भूख जगाने की भूल करे।

विकास का कारण हमारे भीतर है। किस प्रकार का विकास ढूंढ़ना है, यह प्रत्येक जीवात्मा का अपना प्रश्न है। यह सम्पूर्ण जगत प्रत्येक जीवात्मा के लिए एक समान आकर्षक याकि पोषक नहीं है। भीतर के किसी हेतु की वजह से पदार्थों में आकर्षित करने की शक्ति होती है। अगर वह आंतरिक हेतु न हो, या मिट जाए तो समस्त पदार्थ आकर्षण-विहीन लगने लगें अथवा अस्तित्वहीन लगें। प्रत्येक बालक अपने किस आंतरिक हेतु को सिद्ध करना चाहता है यह कौन कह सकता है ? और उसका निर्माण तो मूर्ख ही करने बैठेगा ! उस आंतरिक हेतु को सिद्ध करने के लिए हम बालक के सामने समुचित व्यवस्था कर दें तो बालक विकास के मार्ग पर जा सकता है। मोंटेसरी पद्धति में यह व्यवस्था अंतर्भूत है, शामिल है। इसीलिए मोंटेसरी पद्धति में अमुक बातें ही सीखनी चाहिए, अमुक नहीं, यह कैसे हो सकता है ? काल का बंधन इसमें कैसे सम्भव हो ? समय-चक्र तो यहां चले भी कैसे ? पढ़ाना और परीक्षा लेना इसमें कैसे हो ? और जहां शिक्षण कर्म आंतरिक कारणों से होता है–स्वयंजनित होता है, वहां दंड और पुरस्कार का प्रश्न अपने-आप समाप्त हो जाता है।

नन्हा बालक किसी बाह्य कारण से या दूसरों की आज्ञा से बोलने या चलने की जहमत नहीं करता। वह गिरता है, ठोकरें खाता है, उसे बोलने में बहुत मेहनत पड़ती है, फिर भी उसे उन्हीं में आनंद आता है –क्योंकि उन्हीं में उसका विकास निहित है। आंतरिक विकास की प्रत्येक क्रिया आनंद के साथ ही होती है और होनी चाहिए। यह आनंद तभी मिलता है कि जब विकास की क्रिया में बाहरी वातावरण विक्षेप न डालें। स्वयं-स्फूर्ति और स्वयं-शिक्षण

साथ-साथ चलते हैं। जो शिक्षण आंतरिक जरूरत से होता है वह मनुष्य को स्वयं प्राप्त करना पड़ता है। उसके लिए दूसरों की कोशिशें बेकार हैं। इससे यह सिद्धांत फलित होता है कि कोई किसी को सिखा नहीं सकता। यहां मोंटेसरी-शिक्षक के गौण स्थान की महिमा को समझा जा सकता है। मोंटेसरी शाला विकास के लिए आवश्यक सामग्री का प्रबंध करे और फिर बालक स्वयं को यथेच्छ शिक्षित करे, यही स्वाभाविक है।

पर स्वयं-शिक्षण को डॉ. मोंटेसरी किस तरह प्रस्तुत करती है? सामान्यतया हम जितनी भी प्रवृत्तियां चलाते हैं, उनको दो भागों में बांटा जा सकता है : एक बहिर् प्रवृत्ति और दूसरी अंतःप्रवृत्ति। ऊपर से दोनों प्रवृत्तियां एक ही तरह की दिखाई देती है, पर उनमें जो भेद है वह है उनके पीछे रहने वाला उद्देश्य। बहिर् प्रवृत्ति का उद्देश्य है किसी निश्चित बाहरी कार्य को सिद्ध करना। इस उद्देश्य से प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति उससे पूरी तरह से वाकिफ होता है और इरादे के साथ उसे सिद्ध करता है। बहिर्-प्रवृत्ति का अंत बहिर् उद्देश्य की सिद्धि में है और व्यक्ति को वहीं जाकर संतोष मिलता है। बहिर् प्रवृत्ति कोई भी व्यक्ति अपने आंतरिक विकास के लिए नहीं करता, अपितु बाहरी दुनिया में अपनी व्यवस्था के लिए या ऐसे ही किसी कारण वश करता है। बहिर् प्रवृत्ति में मनुष्य किसी क्रिया को यथा सम्भव कम परिश्रम और कम समय में करना चाहता है। अंतः प्रवृत्ति का हेतु है आंतरिक विकास को साधना। इस हेतु की साधना में ही मनुष्य की तृप्ति निहित है। यह तृप्ति भी मनुष्य बहिर् क्रिया करके प्राप्त करता है। बहिर् क्रिया करके अंतःतृप्ति कैसे प्राप्त करे इसका मनुष्य को अता-पता नहीं लगता, लेकिन वह अंतः-तृप्ति के साधनों की ओर सहज ही आकर्षित होता है और उनका बार-बार परिचय पाकर, बार-बार उनका उपयोग एवं उपभोग करके उनसे तृप्ति हासिल करता है। 'व्यतिषजति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः।' यद्यपि अन्तःतृप्ति संबंधी बहिर् क्रिया बाहरी प्रवृत्ति से मिलती-जुलती लगती है, और बहिर् जगत में बहिर् हेतु भी सिद्ध करती है, परन्तु उनका यथार्थ उपयोग तो भीतर की छुपी हुई भूख को मिटाना ही है। अंतः प्रवृत्ति जब तक आंतरिक उद्देश्य को सिद्ध नहीं करती,

तब तक बहिर् क्रिया के अनंत पुनरावर्त्तन में ही उसे आनंद आता है। जो क्रियाएं आंतरिक भूख को नहीं मिटा सकतीं वे पुनरावर्त्तन की वृत्ति को नहीं जगा सकती। बहिर् प्रवृत्ति और अंतः प्रवृत्ति में यही अन्तर है कि पहली में पुनरावर्त्तन का अभाव है जबकि दूसरी में पुनरावर्त्तन का कोई अंतः नहीं। एकाग्रता और पुनरावर्त्तन का प्रकार दोनों एक-साथ चलते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जो-जो साधन बालकों को पुनरावर्त्तन तथा एकाग्रता में उत्तेजित करते हैं, वे तमाम साधन विकास के साधन हैं। मोंटेसरी पद्धति के सब साधन प्रमुख रूप से इसी सिद्धांत को सामने रख कर बनाए गए हैं।

मोंटेसरी के उपकरणों की योजना के पीछे उक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धांत विद्यमान रहे हैं। और फिर मनुष्य अपने विकास को लेकर आत्मलक्षी है। इतनी विशाल दुनिया उसके विकास का साधन बनी हुई है, फिर भी व्यक्तिगत विकास के लिए वह उपकरणों का चयन करता है। उसके विकास के माध्यम कौन-कौन से हैं वे उसे ढूंढने पड़ते हैं, और उन्हें रख कर दूसरों को वह छोड़ देता है। मनुष्येतर प्राणियों को प्रेरणा से ही पता लग जाता है कि उन्हें क्या चाहिए और क्या नहीं। अतएव उन्हें अपने विकास के लिए दुनिया में ढूँढ़ने नहीं जाना पड़ता, न उन पर उन्हें प्रयोग करने पड़ते। उनके अनुसार दुनिया का अस्तित्व बस इसी में है कि प्रेरणानुसारी जीवन जीया जाए। लेकिन मनुष्य में अन्य प्राणियों वाली प्रेरणा का तत्व बहुत कम होता है और बुद्धि का तत्व बहुत अधिक, इसी कारण उनकी स्थिति प्राणियों से भिन्न है।

विकास के साधन अनंत हैं। इस विशाल विकास को अनंतता में से सिद्ध करने का काम जितना ऊँचा है उतना ही मुश्किल भी। पर इस सिद्धि में ही मनुष्य मनुष्य है। मनुष्य में प्रेरणा नहीं, फिर भी आत्मलक्षी होने के कारण उसकी दिशा सुस्पष्ट है। जब मनुष्य को स्वतंत्र स्थिति में स्वयं-स्फुरणा से विकास साधने का मौका मिलेगा, तभी वह इस विशाल संसार में अपने विकास के साधन ढूंढ कर आत्मतृप्ति पा सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। और यह काम बिना किसी शिक्षाकर्मी की सहायता के संभव है। परंतु शिक्षण की क्रिया एक उपयोगी क्रिया है इसमें अनुभव और विज्ञान की बुद्धिमत्ता का सार है। अतः

अगर शिक्षण की क्रिया मानव-विकास के सहज नियमों को ढूंढ़ कर जगत की शाला से एक छोटी-सी शाला में लाएं और वहां मनुष्य को विकास करने का प्रबंध कर दें तो विकास के पीछे मनुष्य ने अब तक जितना समय, बुद्धि, और शक्ति का अपव्यय किया है, नये मनुष्य को वह सब न करना पड़े। इस दृष्टि से बाल मंदिर बाल-जगत मंदिर है। इस मंदिर में प्रकृति के जो साधन मनुष्य के विकास हेतु मुक्त पड़े हैं, वे मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से अधिक सरल हैं, अधिक प्रत्यक्ष हैं। प्रकृति के आंगण में शिक्षा को उत्तेजित करने वाली सामग्री का भंडार भरा है, पर सीधे-सीधे वे शिक्षा के सहज नियमों का अनुसरण करके संजोये नहीं गए हैं।

मनुष्य की शिक्षा साधर्म्य, वैधर्म्य और क्रम –इन तीनों को समझने में, बुद्धि के विवेक में, दूसरों के अनुभवों को तीव्रता से अनुभव करने में तथा अदृष्ट या अज्ञात की कल्पना करने में निहित है। यह शिक्षा प्रकृति के विशाल प्रांगण से प्राप्त कर पाना बहुत मुश्किल है। कारण यह है कि प्रकृति में ऊपर के तत्व सीधे-सीधे प्रत्यक्ष नहीं मिलते। और फिर प्रकृति मनुष्य के लिए बहुत विशाल होती है। अतः मनुष्य सरलता व सफलता पूर्वक तभी शिक्षा ग्रहण कर सकता है कि जब प्राकृतिक साधन प्राकृतिक तत्वों के प्रतिनिधि हों और वे प्रत्यक्ष रीति से शिक्षा प्रदान करने वाले हों। मोंटेसरी के साधन आजमाए हुए हैं, सिद्ध हैं। बालमन जितना सादा और अकृत्रिम होता है उतने ही सादे ये साधन हैं। बाल-विकास की तमाम प्राथमिक जरूरतों को ये तृप्ति देने वाले हैं। इन्द्रिय-विकास, शब्द ज्ञान, बुद्धि की कसरत, प्रकृति का परिचय, वाणी संरक्षण आदि मोंटेसरी पद्धति की वस्तुएं बाल-जीवन की ही हैं।

इन साधनों की महत्ता इनमें विद्यमान रहने वाले स्वयं-शिक्षण को उत्तेजित करने की शक्ति में है। स्वतन्त्रता और स्फूर्ति की शिक्षा के प्रबंध में स्वयं-शिक्षण ही सम्भव है और वहां शिक्षण-उपकरण भी स्व-शिक्षण प्रदान करने वाले, याने स्वयं भूल सुधार करने वाले होने चाहिए। मोंटेसरी के उपकरण (साहित्य) इसी प्रकार के हैं। प्रकृति का नियम भी यही है। प्रकृति उपदेश नहीं देती, ठोकर लगा कर भूल सुधारती है। अर्थात् प्रकृति की

सामग्री स्वयं-शिक्षण देने वाली है। जिन साधनों के व्यवहार में मुश्किल नहीं पड़ती, किसी भी प्रकार का परिश्रम उठाना नहीं पड़ता, अर्थात् उसमें पड़ने वाली भूल को सुधारने की तकलीफ नहीं पड़ती, वे साधन विकास करने नहीं दे सकते। मोंटेसरी पद्धति के उपकरणों में यही खूबी है, ये स्वाभाविक रूप में प्रवृत्ति करने को प्रेरित करते हैं और चाहे कितना ही परिश्रम-पड़े लेकिन फिर भी काम को पूरा करने हेतु बालक को संलग्न रखते हैं। बालक श्रमपूर्वक क्रिया करते हैं और उसमें एकाग्रता का दर्शन असाधारण नजर आता है। क्रिया शक्ति का यह प्रदर्शन अत्यन्त बेहतरीन होता है। कल्पना का बल कम नहीं होता, बल्कि काम में आनन्द प्राप्त होता है। आनंदपूर्ण कार्य में श्रम नहीं होता, यह कहना गलत होगा। वस्तुतः जिस किसी भी कार्य में आनंद आता है वह दूसरों की नजर से भले ही कठिन या परिश्रम मुक्त हो, तथापि वह कष्ट रहित होता है। जो कार्य विकास के लिए होता है वह चाहे जितना तकलीफ युक्त क्यों न हो, उसे करने में आनंद ही आता है। व्यक्ति को काम में पीड़ा तभी महसूस होती है जब वह अपनी इच्छा के विरूद्ध जाकर याने विकास के मार्ग के विपरीत जाकर उसे करता है। याने दुःख का मूल विकास-मार्ग के विरुद्ध जाने में निहित है। दुःख देने में विकास नहीं है अपितु आनंद के साथ दुःख को सहन करने में विकास है। (मोंटेसरी के) उपकरण विकासोन्मुखी हैं, अतः उन्हें साधने में बालकों को आनंद के साथ परिश्रम करना भी पड़ता है। इस प्रकार से मोंटेसरी पद्धति का अर्थ है स्वतन्त्रता, स्वयं-स्फूर्ति और स्वाभाविक साधनों की साधना-त्रयी! इन तीनों ही तत्वों मे मोंटेसरी पद्धति समा जाती है। मोंटेसरी पद्धति के गट्टे-पेटी संगीत, चित्रकला, व्यायाम, रस्सी पर चलने, हाथों से काम करने आदि के सारे काम इन तीनों तत्त्वों में विद्यमान हैं। जिन कार्यों के पीछे ये तीनों तत्त्व नही है वह मोंटेसरी पद्धति नहीं है और जहां ये तीनों तत्त्व हैं वहां चाहे कोई-सा भी देश क्यों न हो, और कैसे ही उपकरण क्यों न हों, मोंटेसरी पद्धति विद्यमान है।

तत्त्वतः यही है मोंटेसरी पद्धति। □

स्मरणांजलि

श्री हरगोविंद दास स्टेशन मास्टर थे। उनकी शिक्षा पांचवीं अंग्रेजी कक्षा से अधिक नहीं थी। अध्यापक के रूप में उन्होंने कभी काम नहीं किया था। घर में भी किसी बच्चे से उन्होंने कभी मुहारणी बुलवाई हो या उसे गृह-कार्य कराया हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं है। उन्होंने किसी शिक्षण-संस्था में बड़ी दान-राशि देकर अथवा शिक्षा से संबंधित विषयों में भाषण, व्याख्यान, चर्चा करके अथवा पाठ्य-पुस्तकें लिखकर शिक्षा के साथ अपना संबंध नहीं जोड़ा था। देश के शैक्षिक आंदोलन में उनको किसी ने शिक्षाविद के रूप में या शैक्षिक कार्यकर्त्ता के रूप में पहचाना हो मैं ऐसा भी नहीं मानता। फिर भी दक्षिणामूर्ति संस्था में उनके देहावसान पर दो दिनों का अवकाश* रखा गया है और आज उनके विदेह के प्रसंग में हम सब लोग यहां पर इकट्ठे हुए हैं, भला क्या कारण है इसका ?

श्री हरगोविंद दास ने श्री दक्षिणामूर्ति भवन के लिए ऐसा क्या किया था कि वे इतने अधिक सम्मान-पात्र बन गए हैं ?

महात्मा श्रीमद् नत्थूराम शर्मा ने इस संस्था को वैचारिक जन्म प्रदान किया होगा, श्री नृसिंहप्रसाद कालिदास भट्ट (नाना भाई) ने कदाचित इस संस्था के मस्तिष्क की रचना की होगी, श्री ओधवजी भाई ने संस्था की स्थूल देह को गढ़ने में मदद की होगी, पर श्री हरगोविन्द भाई ने इस संस्था में प्राणों की प्रतिष्ठा की थी। यह संस्था महाराजश्री के आर्शीवाद से, श्री नृसिंहप्रसाद भट्ट की मेघा से, और श्री ओधवजी भाई की व्यवहारकुशलता से निर्मित हुई है, यह सही है, पर इससे अधिक सही यह है कि यह संस्था हरगोविंद दास भाई के लहू से निर्मित हुई है।

* स्व. हरगोविंद दास के देहांत के अवसर पर सर प्रभाशंकर दलपतराम पट्टणी की अध्यक्षता में श्री दक्षिणामूर्ति भावनगर में आषाढ़ कृष्णा 13 संवत् 1980 के दिन आयोजित शोक सभा में पढ़े गए उद्गार।

जब महाराजश्री ने संस्था के चरणों में थोड़ा बहुत द्रव्य और आशीर्वचन, नृसिंहप्रसादजी ने अपना अमूल्य समय और श्रेष्ठ बुद्धि, ओधवजी भाई ने अपनी कार्यदक्षता और जान-पहचान समर्पित की थी, तब हरगोविंद भाई ने संस्था के चरणों में अपना सर्वस्व ही रख दिया था।

एक समय ऐसा था कि संस्था निर्धन थी। उस समय संस्था का वैभव आज जैसा नहीं था। उस समय हरगोविंद दास भाई का घर संस्था के चरणों में समर्पित था। संस्था को जिस वस्तु की जरूरत थी, उसकी हरगोविंद भाई को जरूरत नहीं थी। नाना भाई ने कहा कि 'मोटाभाई तख्ते बनवाने हैं, लेकिन पैसा नहीं है।' मोटाभाई बोले : 'अरे मावजी ! ये हमारे तख्ते बोर्डिंग में जाकर रख आना।' नाना भाई कहते : 'मोटाभाई ! रसोइया भाग गया है। क्या किया जाए ?' मोटाभाई बोलते : 'अरे मस्त ! जा अपनी मां से कह दे कि जाकर बोर्डिंग में रसोई बना आए !' कोई विद्यार्थी बीमार पड़ता तो मोटा भाई कह बैठते : 'इसके लिए हमारे घर से कांजी और दूध पहुंचाओ।' बोर्डिंग के मेहमान मोटाभाई के मेहमान होते, बोर्डिंग का उत्सव मोटाभाई का उत्सव होता, बोर्डिंग की सुख-शांति याने मोटाभाई की सुख-शांति, बोर्डिंग की बीमारी याने मोटाभाई की परेशानी !

नानाभाई और मोटाभाई का मिल-बैठना, याने बोर्डिंग की समस्या का समाधान– रसोइये की, पानी की, विद्यार्थियों की, फंड की, गृहपति-आदि की चर्चा। दोनों इन प्रश्नों पर बारीकी से बातचीत करते और अनुभव व ज्ञान के बल पर नए-नए समाधान तलाशते–नानाभाई की बुद्धिमत्ता और मोटाभाई का अनुभव !

नानाभाई विद्यार्थियों की बुद्धि को तीक्ष्ण करते तो मोटाभाई उनके चारित्र्य को उज्ज्वल बनाते।

कितने ही महीनों तक उन्होंने रात का अपना समय संस्था में ही व्यतीत किया था। विद्यार्थियों की रीति-नीति की, स्वच्छता की, धार्मिकता की उन्हें हद से ज्यादा चिंता रहती।

स्टेशन मास्टर के रूप में अपना जो अधिकार उन्होंने वर्षों तक स्वयं अपने लिये कभी नहीं बरता था उसे वे संस्था के लिए बरतते। 'यह तो बोर्डिंग का काम है, इसमें अब मुनाफे की बात नहीं चलेगी।' ऐसे वाक्य वे व्यापारी से कहते और शर्मिन्दा भी करते : 'जब मैं खरीदने आऊं तो मुनाफा ज्यादा ले लेना।' बोर्डिंग के लिए वे हमेशा मानो अपने पैरों पर खड़े ही रहते थे। गांव में माल-मत्ते की खरीददारी करनी होती तो नानाभाई मोटाभाई से जाकर पूछते। नानाभाई ठहरे प्रोफेसर। उन्हें बाजार भाव का क्या अता-पता ? किसी बड़े आदमी से संस्था के लिए चन्दा लेने जाना होता तो मोटाभाई सबसे पहले तैयार रहते। नानाभाई को उन दिनों कौन पहचानता था ? पट्टणी साहब के पास विद्यार्थी परिषद के लिए साधन-सुविधाएं प्राप्त करने जाना होता तो 'चलिए, मोटाभाई, आप चलिये।' कोई विद्यार्थी बीमार होता तो बुलाओ मोटाभाई को, ताकि फटाफट डाक्टर को बुलाएं और मेडिकल हॉल से दवा मंगाएं। बीमार बालक के बिस्तर के पास मोटाभाई और नानाभाई खड़े के खड़े रहते। स्टेशन का काम समाप्त हुआ नहीं कि बोर्डिंग का शुरू और बोर्डिंग का काम निबटाया नहीं कि स्टेशन का शुरू!

बोर्डिंग की साख याने मोटाभाई की साख, बोर्डिंग की शान-बान याने मोटाभाई की शान-बान, बोर्डिंग का तेज याने मोटाभाई का तेज। इस तरह के वर्ष एक-दो नहीं, अपितु बहुतेरे बीते हैं। जहां कहीं अच्छी रकम इकट्ठा करने जाना होता वहां मोटाभाई को तो ले जाना अनिवार्य ही था। नानाभाई के साथ मोटाभाई ठेठ रंगून तक गए। नानाभाई की हिम्मत मोटाभाई के कारण थी। आज मोटाभाई के बिना नानाभाई पंगु हो गए हैं।

अपना सब कुछ संस्था को सौंप कर, अपने बालकों तक को संस्था के चरणों में चढ़ा कर संस्था की उदात्त सेवा करने की जो वृत्ति उन्होंने धारण कर रखी थी, उसका अनुभव तो उनके पास रहने वालों को ही है। उनका एक भानजा जब अन्य काम छोड़ कर इस संस्था से आ जुड़ा था तब उन्होंने अपने उद्‌गार यों व्यक्तकिये थे : 'सचमुच आज मुझे आत्मदर्शन हुआ है। मेरा अपना ही कोई इस संस्था से जुड़े तो अच्छा है, ऐसी मेरी भावना

आज तृप्त हुई है।' वे अपने पुत्रों का ध्यान संस्था की तरफ बार बार आकृष्ट करते रहे थे। अगर मैं भूल नहीं रहा, तो एक बार उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि संन्यास लेकर संस्था के कुलगुरु के रूप में शेष जीवन संस्था के लिए ही व्यतीत करें और संस्था की शरण में मन, शरीर आत्मा समर्पित कर दें।

उन्हें इस बात की बहुत पीड़ा थी कि संस्था आर्थिक तंगी में रहती थी। रेल्वे से मुक्त होने के बाद उन्होंने लगभग संकल्प किया था कि वे स्वयं संस्था के लिए एक लाख रुपए इकट्ठे कर देंगे। इसके लिए वे उत्तरी भारत में बहुत भटके थे। जब नृसिंहप्रसादजी धन एकत्रित करने के लिए अफ्रीका गए और जब हम सब उन्हें विदा दे रहे थे, तब मोटाभाई ने कहा था : 'मेरी तबीयत ठीक नहीं है इसलिए विवश हूं कि इनके साथ नहीं जा रहा। पर इस मस्त की मां ने आज मुझे कहा है कि 'आज्ञा दें तो नानाभाई के साथ मैं चली जाऊं और इन्हें रास्ते में खाना बना कर खिला दूं।' यह बात सुनकर मैंने अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव किया। भवन-निर्माण सम्बन्धी मेरी भावना में मस्त की यह मां इतना सहयोग दे रही है, यह मेरे लिए संतोष की बात है। इसमें मैं अपनी भावना का आत्मदर्शन करता हूं।' अत्यन्त भाव-विगलित होकर वे इतनी बात बोले थे।

विद्यापीठ के साथ संस्था को जोड़ने के नाजुक प्रसंग [illegible] मोटाभाई की शुभ वृत्ति अचल थी। वे मात्र इतना चाहते थे कि [illegible] तरह से संस्था को बचाओ।' जब आवेग में आकर युवा आजीवन सद[illegible] त्याग पत्र दे दिये थे और उन्हें संस्था का अवसान समीप प्रतीत हुआ था, वे एक बालक की तरह फूट-फूट कर रो पड़े थे। संस्था की दुर्दशा उनके हृदय को चीर रही थी। उस समय नानाभाई और मोटाभाई का रुदन देखने में नहीं आता था।

अनेक कटु प्रसंगों से संस्था गुजरी और संस्था से वे निवृत्त भी हो गए पर उसके बाद भी उनमें संस्था के प्रति उतनी ही मधुरता विद्यमान रही। उन्होंने संस्था की प्रगति चाही, संस्था से दूर रहे, पर उन्होंने संस्था को अपने

से विलग नहीं किया, न कर ही सके। आखिर तक संस्था उनके हृदय में था। वे गृहपति का अटपटा और माथापच्ची का काम नहीं जानते थे, वे कसरत कराना या भाषण देना भी नहीं जानते थे, उन्हें डाइरेक्ट मैथड या उन्मेष योजना का ज्ञान न था, न मोंटेसरी या किंडरगार्टन का अता-पता था लेकिन उन्हें एक बात का ज्ञान था, और वह यह, कि संस्था का भला कैसे हो सकता है !

परोपकाराय सत्तां विभूतये।

उन्होंने संस्था को चारित्र्य का उत्तम आदर्श और प्रबल विश्वास दिया था, सबों को उन्होंने शुद्ध सात्त्विक उदारता का पाठ पढ़ाया था और सबों को कर्मयोग की अमूल्य दीक्षा प्रदान की थी।

आज उस परम उदार, साधुचरित, सात्त्विक, कर्मयोगी के अवसान का उत्सव है। यह उत्सव आत्मा की शांति का तथा चेतन की विजय का है। यह उत्सव हम में विश्वास, वीर्य एवं प्राण संचरित करे। यह उत्सव संस्था का अमृत बने।

—गिजुभाई

□

याने मोटा...
तरह के वर्ष ए...
इकट्ठा करने...
नानाभाई...
मोटा...